फादर वालेस

सच्चे इन्सान बनो

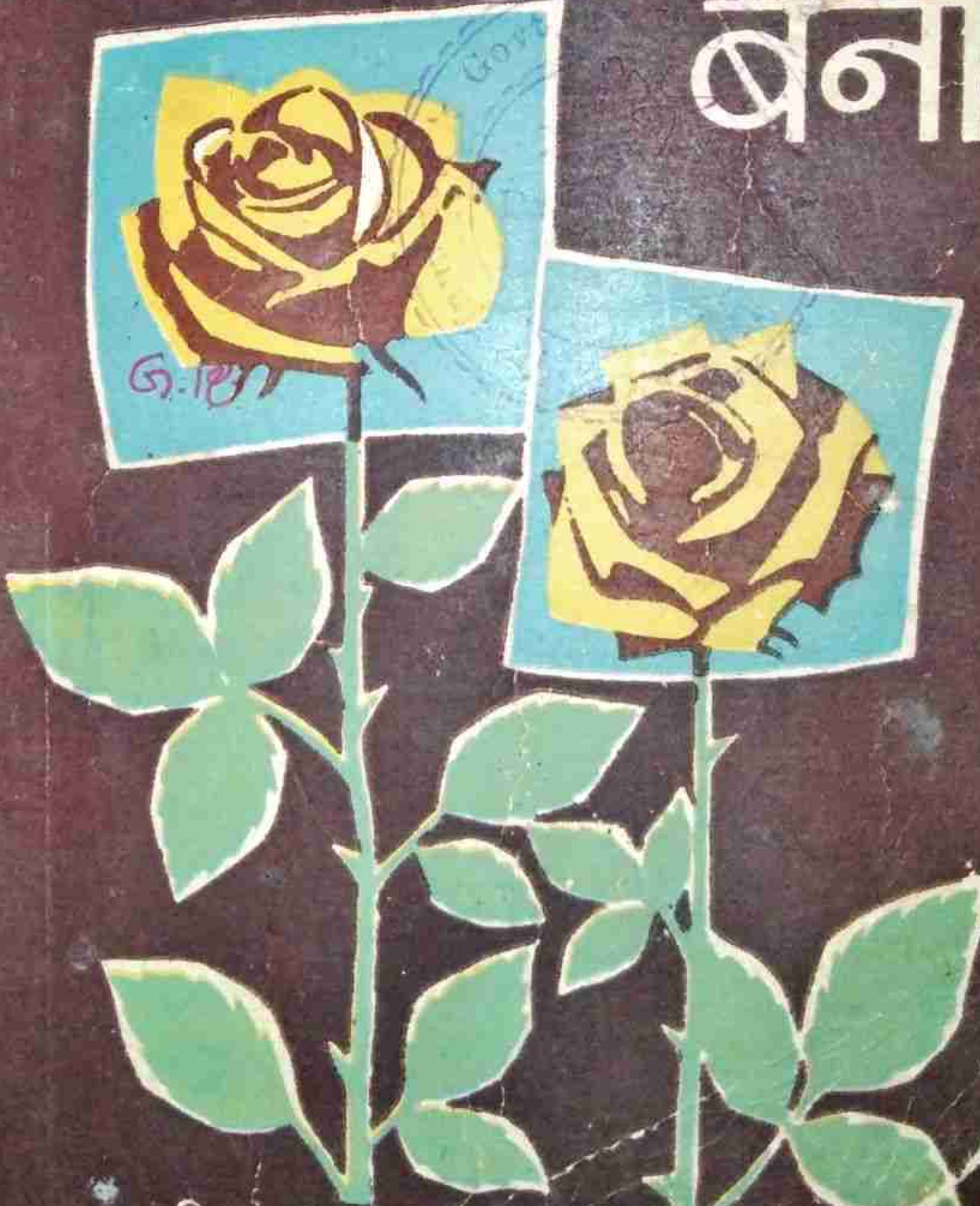

सस्ता साहित्य मंडल-प्रकाशन

सच्चे इन्सान बनो

चरित्र को ऊंचा उठाने तथा व्यक्तित्व को
प्रभावशाली बनाने की प्रेरणा देने वाली पुस्तक

•

लेखक
फ़ादर वालेस

अनुवादक
नित्यानंद पटेल

•

सस्ता साहित्य मण्डल

१९८९
सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक
यशपाल जैन
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
एन ७७, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली

छठी बार : १९८९
मूल्य : रु० ८.००

मुद्रक
अंकित प्रिंटिंग प्रेस
शाहदरा, दिल्ली-110032
फोन : 2284694

प्रकाशकीय

हमने 'मण्डल' से बहुत-सा ऐसा साहित्य प्रकाशित किया है, जो प्रत्यक्षतः जीवन-निर्माण की शिक्षा देता है। उस साहित्य के प्रणेता भारत तथा अन्य देशों के चिन्तक हैं। उस साहित्य के अंतर्गत अनेक पुस्तकें बहुत ही लोक-प्रिय हुई हैं। स्वेट मार्डन की 'दिव्य जीवन' तथा 'आगे बढ़ो' की मांग तो बराबर बनी रहती है।

हमें हर्ष है कि उसी साहित्य के क्रम में एक नई पुस्तक पाठकों के हाथों में पहुंच रही है। इसके लेखक अहमदाबाद के 'सेंट जेवियर्स महाविद्यालय' से संबद्ध हैं। नई पीढ़ी से उनका निकट का नाता रहता है। उसी व्यावहारिक ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर, अत्यन्त सरल, सुबोध एवं रोचक शैली में उन्होंने इस पुस्तक की रचना की है। पुस्तक को पढ़ते-पढ़ते ऐसा जान पड़ता है, मानो लेखक अपने पाठकों से बात कर रहा है और जाने-अनजाने वे शिक्षाएं पाठकों के गले उतर रही हैं, जो जीवन की बुनियाद को पक्का करती हैं।

मूल गुजराती में यह पुस्तक 'व्यक्ति घडतर' के नाम से प्रकाशित हुई है।

इस संस्करण के प्रकाशन में हमें पी.एस. जैन फाउंडेशन दिल्ली द्वारा जो आर्थिक सहायता प्राप्त हुई है, उसके लिए हम अनके आभारी हैं।

हम आशा करते हैं कि इस पुस्तक को जो भी पढ़ेंगे, उन्हें लाभ ही पहुंचेगा। शिक्षा-संस्थाओं के लिए तो यह अत्यन्त उपादेय है।

—मंत्री

भूमिका

व्यक्तित्व-निर्माण की प्रक्रिया को स्नेहपूर्वक देखने और उसमें मदद करनेवाली दृष्टि या तो मां-बाप की होती है या फिर गुरुजनों की। व्यक्तित्व-निर्माण की यह प्रक्रिया वृद्धावस्था तक ही नहीं, अंतिम श्वास तक जारी रहती है। परंतु किशोर-अवस्था की देहली पार करके यौवन में प्रवेश करने पर व्यक्तित्व-निर्माण का प्रशन सहसा खड़ा हो जाता है और उसे सुलझाने के लिए बहुत बार बेहद उलझन अनुभव होती है। ऐसे समय मां-बाप अथवा गुरुजनों की तरफ़ से जो मदद मिलती है, उसकी क़ीमत आँकना मुश्किल है।

फ़ादर वालेस ने मुख्यरूप से भारत में आजकल कॉलेजों में पढ़नेवाले छात्रों की अनेक छोटी-बड़ी समस्याओं का खूब बारीकी से अध्ययन-मनन किया है। उनपर स्नेपूर्वक उनके साथ दिल खोलकर बातें भी की हैं। उसी का परिणाम यह पुस्तक है। जो विद्यार्थी यह पुस्तक पढ़ेंगे, उन्हें अपने व्यक्तित्व-निर्माण की गधा-पचीसी[1] के कठिन क्षणों में, लेखक की स्नेहपूर्ण वाणी सुनाई देगी। ऐसा कहा जा सकता है कि गधा-पच्चीसी के समय के लिए यह पुस्तक अमूल्य नोटबुक है।

पुस्तक बोधप्रद हो, यह अनिवार्य है ; परंतु लेखक भाई की तरह अथवा सन्मित्र के नाते बात करता है, इसलिए बोध को भार रूप नहीं होने देता। दलपतराम की कृतियों से वह यत्रतत्र सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। दलपतराम की तरह विनोद-वृत्ति भी उसमें है। यथा "शब्दों और वाक्यों का अर्थ बिठाने के लिए स्त्री के पास अलग व्याकरण होता है। कोई आधुनिक पाणिनि स्त्रियों और पुरुषों के लिए अलग-अलग व्याकरण लिख दे और पति-पत्नी के लिए भी अलग-अलग शब्द कोश भी बना दे, तो कुछ बात है। इस बीच स्त्री के साथ बात करते समय पुरुष को चिल्लाकर बोलने की आदत छोड़नी चाहिए, और चिल्लाकर बोलते हुए पुरुष की बात स्त्री को आघात सह सकनेवाले फाये को मन के कान में डालकर, सुननी चाहिए।"

लेखों से कहीं-कहीं कटाक्ष भी दृष्टिगोचर होता है जैसे, "दुनिया के बाज़ार में जन-सेवा की तख़्तियाँ लगाकर अनेक दुकानदार बैठे हैं।"

---

१ सोलह और पच्चीस वर्ष तक की अवस्था

लेखक का संसार-दर्शन ऐसे उद्गारों द्वारा प्रकट होता है—"सेवा के नाम से स्वार्थ साधने की कुटिल वृत्ति।" इस उल्लेख में परिस्थिति का हूबहू वर्णन कर देनेवाला 'कुटिल' शब्द उचित रीति से आकर बैठ गया है। इसी तरह 'घर के दुःख जैसा दुःख नहीं' जैसे वचनों में संसार-दर्शन की गहराई मिलती है।

काव्यमय आलेखन में लेखक सिद्धहस्त है, "पंखड़ियों के कोमल सौंदर्य को पवन में खुला करने के डर से बंद रहनेवाली कली क्या कभी फूल बन सकेगी ? कली का खिलना, श्रद्धा का चमत्कार है" जीवन-पाथेय के अक्षय भंडार जैसे 'शांति-निकेतन' संग्रह के रचयिता रवीन्द्रनाथ ठाकुर लेखक को खूब प्रिय हैं, ऐसा लगे तो आश्चर्य नहीं।

सब जगह एकत्र किये अनेक दृष्टान्तों द्वारा अपनी बात को रसपूर्ण बनाने में भी लेखक चूकता नहीं। वह स्वयं गणित का निपुण शिक्षक है, इस बात का पता 'समूह-शास्त्र' के शोधक फ्रेंच गणितज्ञ गालोआ के करुण अन्त तथा 'समतल-नगर' की रोचक गणित-कथा के समावेश से ही नहीं लगता, बल्कि गणित की परिभाषा की सहायता से बताई चरित्र-निर्माण की प्रक्रिया से भी लगता है।

लेखक की शैली बातचीत की और घरेलू है। फ़ादर वालेस भारतीय संस्कृति के मर्म को आत्मसात करके बोलते हुए दिखाई पड़ते हैं। भावनाओं की बात करते हुए वह झूले की उपमा योजित करते हैं और मित्र-प्रेम का आलेखन करते हुए इस प्रकार कविता की शैली ग्रहण करते हैं—"सच्ची मित्रता संसार-सागर की लहर" फिर भारतीय धर्म, परिभाषा की मदद से एक सुन्दर निरीक्षण प्रस्तुत करते हैं—"सचमुच, मित्र-प्रेम हृदय-वृन्दावन का अमृतफल है।"

लेखक की अभिव्यक्ति-क्षमता का पूर्ण परिचय इस एक ही वाक्य में देखिये—"मानव-हृदय इतिहास का आद्य विश्वतीर्थ है।"

इस आद्य विश्वतीर्थ के किनारे खड़े होकर उच्चारित फ़ादर वालेस के ये स्नेहपूर्ण वचन हमारे युवक वर्ग को अवश्य रुचिकर और उपयोगी होंगे।

—उमाशंकर जोशी

दो शब्द

व्यक्तित्त्व क्या है ? जिसके द्वारा मनुष्य मनुष्य बनता है तथा कुटुम्ब एवं समाज में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता है ; जिसके द्वारा महान् पुरुष महान् बनता है और नेता नेता बनता है ; जिसके प्रताप से पुरुषार्थबुद्धि की त्रुटियों को मनुष्य दूर करता है और आत्मबल शरीर के दोषों को अनुभव ही नहीं होने देता, तत्त्व अथवा आन्तरिक प्रवाहों का संगम ही व्यक्तित्व है।

प्रभावशाली व्यक्तित्व अनमोल वस्तु है। इसके प्रताप से ही मनुष्य समाज में सम्मान तथा जीवन में गौरवशाली सफलता प्राप्त करता है। रूप-रंग की सब कमियों को यह दूर कर देता है और व्यक्ति की शक्तियों पर ऐसी धार चढ़ा देता है, जिससे वह सबल, शानदार, तेजस्वी, मनोरम तथा असाधारण रूप में आकर्षक बन जाता है। व्यक्तित्व के इस सौन्दर्य से जो मिलने-जुलनेवालों के मनों को मुग्ध कर लेता है, उसके सब काम आप-से-आप सिद्ध होते हैं, ऋद्धि-सिद्धि उसके चरण चूमती है, कृतार्थता का वह आनन्द अनुभव करता है।

यह तेजस्वी व्यक्तित्व हर किसी को सुलभ हो सकता है, यही लेखक ने इस पुस्तक में सरलता से बताने का प्रयत्न किया है। वह ऐसी मनोहर शैली में बात करता है कि पाठक के हृदय में साहस उत्पन्न होता है, उसे सही रास्ता दिखाई पड़ता हैं और वह उसपर उत्साह से कदम बढ़ाने को तैयार हो जाता है। पुस्तक की यही असाधारणा विशेषता है। लेखक पाठक का हाथ पकड़कर दिव्यता की ओर ले चलता प्रतीत होता है।

इसी अभूतपूर्व सफलता के कारण इस पुस्तक के गुजराती भाषा में पाँच संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। गुजरात-सरकार ने इस पुस्तक को पुरस्कारों से सम्मानित किया है। उच्चकोटि की अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने भी पुस्तक को पारितोषिकों से पुरस्कृत किया है।

देश में हजारों-लाखों नवयुवक अपने व्यक्तित्व को तेजस्वी एवं प्रभावशाली बनाने में समर्थ हो सकें, इसी हार्दिक अभिलाषा के फलस्वरूप फादर वालेस की गुजराती भाषा में लिखी पुस्तक का हिन्दी अनुवांद किया गया है।

प्रभावशाली व्यक्तित्व,हर कोई चाहता है। इस पुस्तक के पठन-पाठन से यह उत्कट अभिलाषा पर्याप्त मात्रा में पूर्ण हो सकती है, हम तो बस यही कहना चाहते हैं।

गुजरात के शिक्षा-मन्त्री श्री मनुभाई पंचोली 'दर्शक' ने इस पुस्तक की सफलता के सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है– "विचारों की स्पष्टता, भावनागत सहानुभूति, युक्तियुक्त विषय-निरूपण इत्यादि बातों से सम्पन्न संक्षिप्त निबन्धों का यह सुन्दर संग्रह पढ़नेवाले के मन में प्रकाश और गर्मी दोनों का आह्लादक अनुभव कराता है।"

गुजरात युनिवर्सिटी के कुलपति, प्रथम कोटि के साहित्यकार, श्री उमाशंकर जोशी ने पुस्तक को अपने आशीर्वाद से कृतार्थ किया है। विचारों और भावों की इस अनमोल निधि द्वारा, प्रत्येक शिक्षित युवक अपने व्यक्तित्व को सौ गुना सुन्दर बनाकर धन्य क्यों न हो ?

—नित्यानन्द पटेल

विषय-सूची

□

भूमिका — उमाशंकर जोशी — ४

१. जागृति — १३
२. व्यक्तित्व का विचार — १८
३. वृत्ति और इच्छाएँ — २३
४. बुद्धि-विकास — २९
५. मनोबल — ३५
६. भावों की कीमती पूंजी — ३९
७. जीवन-ध्येय — ४७
८. अपनी-शक्ति-अशक्तियों का स्वीकार — ५१
९. आत्म-विश्वास — ५९
१०. वर्तमान का कर्तव्य — ६५
११. परिपक्व व्यक्तित्व — ६९
१२. तुम और दूसरे — ७५
१३. व्यवसाय — ८४
१४. घर — ९०
१५. मित्रता — ९६
१६. संयम — १०२
१७. पति-पत्नी — १०९
१८. सामाजिकता — ११६
१९. आत्म-सम्मान — १२३
२०. श्रेष्ठता की उपासना — १३०
२१. उत्साह-आनंद — १३६

□

सच्चे इन्सान बनो

१

०

जागृति

"मनुष्य के भविष्य का निर्माण केवल बुद्धि द्वारा नहीं, उसके समूचे व्यक्तित्व द्वारा होता है । प्रभावशाली व्यक्तित्व ही मनुष्य को समाज में विशिष्ट स्थान दिलाता है ।"

स्कूल या कॉलेज में तुम क्या-क्या विषय पढ़ते हो ? गणित, विज्ञान, भूगोल, गुजराती, हिंदी, अंग्रेज़ी ..., ऐसी अच्छी-खासी सूची बन जाती है, और हरएक विषय पर परीक्षाओं की परंपरा तो चलेगी ही । थोड़े वर्षों तक ऐसे विषय और उनके उपविषय एवं शाखाओं का अध्ययन करोगे । साथ-साथ इतनी ही परीक्षाओं का प्रहार सहोगे । फलस्वरूप तुम तैयार हो जाओगे ।

तैयार ?

किसके लिए ?

पदवीदान-समारोह में, साक्षरों के सम्मुख, शिष्ट भाषणों के ताल में तुम्हारे हाथ में मरोड़दार अक्षरोंवाला अच्छा-सा एक कागज़ दिया जाय, उसके लिए न ? तुम्हारी उपाधि का यह कागज़ साक्षी होगा । तुम्हारी योग्यता का प्रमाणपत्र होगा ।

किसका प्रमाणपत्र ?

किसकी योग्यता ?

उपाधि मिल जाने से, जीवन-संग्राम की योग्यता प्राप्त हुई हो, ऐसा प्रायः होता नहीं । हाथ में कागज़ आ जाने से मन और

मस्तिष्क संस्कारयुक्त हो जायं, ऐसा भी देखा नहीं गया । परीक्षा के लिए तैयारी और जीवन की तैयारी, दोनों अलग-अलग ही हैं ।

वैज्ञानिक शोध के लिए प्रख्यात एक भारतीय संस्था में, अध्यापक-पद के लिए, बहुत-से उम्मीदवार आये । उनमें एक उम्मीदवार, तीव्र बुद्धि और उज्ज्वल कार्यक्षमता के कारण दूसरों की अपेक्षा विशेष ध्यान आकृष्ट करता था । तो भी अनेक तटस्थ कसौटियों और मुलाक़ातों के बाद, वह नहीं लिया गया । ख़ानगी रूप से जाँच करने पर स्पष्टीकरण मिला : "उसकी बुद्धि तो अच्छी है, उसकी उपाधियाँ भी ठीक हैं; परंतु उसका व्यक्तित्व ठीक नहीं और जिसका व्यक्तित्व ठीक, सुदृढ़ और सन्तुलित न हो, वह हमारी संस्था के उपयुक्त नहीं ।"

व्यक्तित्व : जिसके द्वारा मनुष्य मनुष्य बने, व्यक्ति व्यक्ति बने, और कुटुंब एवं समाज में अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त करे ; जिसकी वजह से महान् पुरुष महान् बनें और नेता नेता बनें; जिसके प्रताप से बुद्धि की कमी मेहनत पूर्ण कर देती है, और शरीर के दोष आत्मबल भुला देता है ; जिसमें मनुष्य के मन तथा हृदय, स्वभाव तथा संस्कार, विचार, भावनाएँ और आकांक्षाएँ, एक-दूसरे से मिलते हैं और परस्पर संकलित होकर प्रभाव डालते हैं, एवं प्रभावित होकर मानव-व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं ।... यह तत्व, यह तंत्र, अथवा आंतरिक प्रवाहों का यह संगम ही, मनुष्य की वास्तविक माप है; और यही उसे जीवन में सफलता या असफलता दिलाता है । यही है व्यक्तित्व ।

परीक्षा में प्रथम आये ?

शाबाश !

परन्तु अभी जीवन में प्रथम आना शेष है ।

"स्कूल में था, तब यह कैसा उदीयमान विद्यार्थी था ! फिर

जाने कैसे एक कोने में जाकर बैठा रहा, ज़िंदगीभर । जबकि उसे देखो ! पढ़ता था तब शिक्षक अथवा दोस्त, कोई उसके सामने देखता भी न था; वह इतनी उन्नति कर जायगा, स्वप्न में भी किसी ने कभी सोचा न था ।" जहाँ शिक्षक एकत्र होकर पुराने विद्यार्थियों की बातें करते हों, वहाँ इस प्रकार की आलोचनाएँ सुनाई पड़ती ही हैं ।

तुमने स्वयं क्या देखा नहीं कि परीक्षा में प्रथम आनेवाला विद्यार्थी सबसे अधिक लोकप्रिय नहीं भी होता ? निबंध-स्पर्धा में पुरस्कृत होनेवाला विद्यार्थी, बात करते हुए भी सकुचाता है ? और नृत्य में निपुण लड़की हमेशा अकेली-अकेली भी रहती है ?

फर्स्ट क्लास में पास होनेवाले विद्यार्थियों को दूसरे वर्ष अनुत्तीर्ण होते मैंने देखा है । बुद्धि, पैसा और शक्ति होते हुए भी, पठन-पाठन छोड़ देने का निर्णय करनेवालों के कई पत्र भी मैंने पढ़े हैं । इसके विपरीत, एक बार मुश्किल से पास होनेवाले विद्यार्थियों को दूसरी बार क्लास में प्रथम आते हुए भी मैंने देखा है; और किसी भी सुविधा के बिना पढ़ते हुए—अध्ययन अब छोड़ना ही पड़ेगा, ऐसा भय सिर पर सवार होने पर भी—हिम्मत के साथ मेहनत करते हुए, अपूर्व श्रद्धा से आगे निकल जानेवाले विद्यार्थियों को भी मैंने देखा है ।

निस्संदेह, मनुष्य के भविष्य का निर्माण करनेवाली सिर्फ़ बुद्धि नहीं, उसका सारा व्यक्तित्व है । मनुष्य का व्यक्तित्व ही उसे समाज में विशिष्ट स्थान दिलाता है । इसपर उचित ध्यान न देने से अचिंतित परिणाम आते हैं; मेहनत का (और पैसे का !) पूरा बदला मिलता नहीं, शिक्षा का फल जैसा चाहिए वैसा आता नहीं ।

स्कूल-कॉलिज का काम महत्त्वपूर्ण ही है । परीक्षाएँ भी-

कलियुग में हैं तबतक- अनिवार्य हैं । कहने का तात्पर्य यही कि यह सब अभी अधूरा ही है, अपूर्ण है । याद रखो,

ज्ञान, विषयों का ढेर नहीं;

शिक्षा, सद्गुणों का जोड़, समुच्चय नहीं;

व्यक्तित्व, प्रमाणपत्रों का संग्रह नहीं ।

एक विद्वान् ने विनोद में लिखा है, ''पढ़ा हुआ तमाम भूल जाने के बाद, मन में जो रह जाय, उसे व्यक्तित्व कहा जाता है !'' पढ़ना तो चाहिए ही । (कुछ सीखा ही न हो, तो भूलेगा ही क्या ?) परंतु क्या पढ़े, यह बड़ी बात नहीं । अक्षरों के ठप्पे सीसे के, लोहे के, और चाहे सोने के भी हों, तो भी अक्षर तो एक जैसे ही छपते हैं ; और छपे हुए वाक्यों का अर्थ भी वही रहेगा । अध्ययन के विषय तो साधन मात्र हैं ; इसलिए सच्ची शिक्षा में, उन विषयों के सिवा, और भी बहुत-कुछ ध्यान में लेना होता है ।

अपना स्वभाव पहचान लो ; अपनी भावनाओं पर संयम रखना सीखो ; अपना मनोबल विकसित करो ; समाज में रहना सीखो ; अध्ययन में अपना प्रिय विषय पसंद करो ; अपना जीवन-ध्येय निश्चित करो... ये वास्तविक 'विषय' कहे जा सकते हैं–पाठ्यक्रम में न हों, तो भी ! इन्हें सीखने की भी एक कला है- वास्तविक जीवन-कला, और विशेष प्रयत्न के बिना वह हस्तगत नहीं होती । फिर दुःख की–अथवा सुख की–बात यह है कि इस जीवन-परीक्षा में न तो चोरी और न गप्पबाज़ी ही चल सकती है !

व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिए क्लास के काम के सिवा और बहुत-कुछ भी चाहिए ।

इसमें आशा भी है, और भय भी ।

आशा की लालिमा है, क्योंकि तुम क्लास में आगे न हो तो भी जीवन में आगे आ सकते हो ! और चेतावनी भी है, क्योंकि तुम

क्लास में आगे हो, तो भी जीवन में पीछे पड़ सकते हो ! दुहरा प्रश्न है, परंतु प्रश्न तो है ही, और ऐसा प्रश्न प्रस्तुत करना हमारा पहला काम है । जिसके मन में प्रश्न ही न हो, उसके लिए जवाब देना व्यर्थ है । इसके विपरीत, प्रश्न बराबर व्यवस्थित किया हो, और स्पष्ट ढंग से पूछा हो, तो उसका जवाब आधा तो मिल ही चुका है ।

अपना व्यक्तित्व, अच्छे रूप में निर्माण करने के लिए, अपनी समस्त शक्तियों का पूरा-पूरा उपयोग करने के लिए, अपना और देश का भविष्य उज्जवल बनाने के लिए, तुम इरादा करो, दृढ़ संकल्प करो, तो व्यक्तित्व-निर्माण का काम शुरू हो गया, ऐसा कहा जा सकता है ।

प्रस्थान करने का निर्णय कर लिया, तो मुसाफ़िरी शुरू हुई ।

निद्रा से जाग गये, तो दिन शुरू हुआ ।

व्यक्तित्व का भान हो गया, तो समझो उसकी बुनियाद रख दी गई ।

२

०

व्यक्तित्व का विचार

"बहुत-से मनुष्य—शिक्षित एवं संस्कारी भी—अपने-आपको बराबर परखते नहीं। अनेक भूलों और निष्फलताओं का मूल कारण यही अज्ञान है ।"

मनोविज्ञान के एक प्रामाणिक ग्रन्थ में व्यक्तित्व की लगभग चार सौ अलग-अलग व्याख्याएँ लेखक ने एकत्र की हैं । इतनी अधिक हैं इसलिए एक भी अच्छी न होगी, ऐसा अनुमान सहज ही किया जा सकता है । परन्तु व्यक्तित्व क्या है, इसका विचार तो हरएक को होता ही है ।

व्यक्तित्व कोई रूप नहीं, मज़बूत शरीर नहीं, लोकप्रियता नहीं, बुद्धिमत्ता भी नहीं ।

व्यक्तित्व में मनुष्य की तमाम शक्तियों—शरीर, बुद्धि, आत्मबल, भावना— का समावेश होता है । परन्तु जैसे कोई चित्र, सिर्फ़ चित्रपट और अमुक रंगों सें बना हुआ होता नहीं, जैसे कोई भव्य इमारत ईंटों का ढेर नहीं, वैसे ही व्यक्तित्व भी हाथ-पैर या भावनाओं का समुच्चय नहीं । इन शक्तियों का हरएक व्यक्ति में विशेष समन्वय मिलता है, विशेष लक्ष्य की ओर वे दौड़ती होती हैं, और इसीलिए विशेष व्यवहार भी इसमें से उपजता है । 'विशेष' शब्द पर भार डाला गया है, क्योंकि यह 'विशेषता'

उस-उस व्यक्ति का मुख्य लक्षण होता है ।

तुमने मोटरकार का कोई बड़ा कारख़ाना देखा होगा । मोटरें तैयार होकर, एक के बाद, एक संधान-स्थल पर बाहर आती-जाती हैं । सब एक-समान ! एक-सा इंजिन, एक-से पहिये, एक-सी ही चाँप, एक-सी बैठक । रंग की भिन्नता; सिर्फ़ इतना ही फ़र्क़ । परन्तु मनुष्य कारख़ाने में तैयार किया गया माल नहीं । वह तो एक अद्‌भूत शिल्पी का सृजन है, जिसके कला-नमूनों की आवृत्ति नहीं होती ।

जैसे दो मनुष्यों के अँगूठे की छाप एक-जैसी नहीं होती, वैसे ही व्यक्तित्व भी एक-समान नहीं होते । दो पैर और दो आँखें, मन और हृदय, भय और प्रेम, भूख और प्यास आदि में समता होने पर भी प्रत्येक मनुष्य एक अलग, अनोखा, अनन्य व्यक्तित्व है । यह अनोखापन उसका महत्त्व सूचित करता है । दो मनुष्यों के व्यक्तित्व में उतना ही फ़र्क़ होता है जितना कारख़ाने में और कलाकार के सृज़न में ।

तुममें तुम्हारा अपना व्यक्तित्व है, उसीको तुम्हें विकसित करना चाहिए । दूसरों से तुम्हें प्रेरणा मिल सकती है । "इसका यह गुण मैं अपने में ला सकूँ तो अच्छा," ऐसे शुभ विचार तुम्हें अनेक बार सूझेंगे और महान् स्त्री-पुरुषों के जीवन-चरित पढ़ते हुए, "मैं इसके सदृश बनूँगा" ऐसा संकल्प तुम्हारे हृदय में उठे बिना रहेगा नहीं । यह प्रेरणा बहुत अच्छी है; परन्तु याद रखो कि तुम्हारा व्यक्तित्व तुम्हारा ही है, और यह किसी दूसरे से पृथक् है । अंधा अनुकरण मरण ही है ।

यशवंतराव चह्वाण जब स्कूल में पढ़ते थे, तब एक दिन शिक्षक ने बालकों से पूछा, "तुम क्या बनना चाहते हो ?" किसी ने कहा, "शिवाजी ।" किसी ने कहा, "अशोक ।" और किसी ने

कहा "तुकाराम ।" परन्तु यशवन्तराव ने जवाब दिया, "मुझे यशवन्तराव चह्वाण बनना है ।"

निस्संदेह, आखिर तुम्हें 'तुम' ही बनना है ।

गांधीजी और जवाहरलालजी, दोनों अलग-अलग और दोनों महान् । हरएक अपना-अपना व्यक्तित्व रखकर ही एक-दूसरे का साथी बना । फलतः देश और दुनिया के लिए इतना शुभ परिणाम आया ! प्रत्येक मनुष्य के लिए दुनिया में अपना-अपना स्थान होता है । तुम्हारा भी ! और यह अपना स्थान तुम ही ले सकते हो । तुम्हारे सामने तुम्हारा ही जीवन-कार्य पड़ा हुआ है । इसे तुम हर्ष से उठा लोगे, तो तुम्हारा जीवन सार्थक हो जायगा ।

यदि एक बार यह बात तुम्हारी समझ में आ जाय तो अपने को तुच्छ समझने, हीनता-ग्रन्थि से पीड़ित होने, या दूसरों से ईर्ष्या करने का अवकाश न रहेगा और यह आत्म-अवज्ञा, हीनता की ये भावनाएँ और यह ईर्ष्या, कितने ही मनुष्यों का जीवन विनष्ट करने के लिए उत्तरदायी हैं !

तुम्हारी अपेक्षा दूसरा होशियार होगा, अमीर होगा, रूपवान् होगा ... । एक-एक वस्तु को लिया जाय, तो हरएक में तुम्हारी अपेक्षा कोई-न-कोई बेहतर गुण तो निकलेगा ही, और यह बात तो हरएक पर लागू होती है। परन्तु इन सब वस्तुओं का जो मिश्रण बनता है, वह कुछ 'विशेष' है, वह तुम्हारा ही है और वह तुम्हें समाज में अपना विशेष स्थान दिलायेगा ।

नाटक में अलग-अलग पात्र भाग लेते हैं । राजा भी होता है और विदूषक भी । लेकिन इनाम हमेशा राजा को ही मिले, ऐसा होता नहीं । विदूषक अपनी भूमिका राजा की अपेक्षा अच्छे ढंग से अदा करे तो उसे ही इनाम मिलेगा । व्यक्तित्व की विशेषता से, तुम्हें यह एक महत्त्वपूर्ण पाठ मिलता है कि दुनिया में तुम्हारा

स्थान है और इसे प्राप्त करने के लिए तुम्हें अपने व्यक्तित्व का उत्साहपूर्वक सर्वांगीण विकास करना है । परन्तु साथ-ही-साथ, तुम्हारा एक कर्त्तव्य उपस्थित होता है, और वह है तुम्हें अपना स्वभाव, अपना मिजाज, अपने संस्कार, अपनी अच्छी-बुरी आदतें, अपने सिद्धान्त, अपने आदर्श, अपनी बुद्धि और भावनाएँ अर्थात् अपना व्यक्तित्व परख लेना है ।

प्रथम ज्ञान है आत्मबोध ।

यह किसी सिद्धात्मा का गुरुमंत्र नहीं, परन्तु व्यक्तित्व निर्माण का पहला व्यावहारिक नियम है । बहुत-से मनुष्य-शिक्षित और संस्कारी भी–अपने-आपको बराबर परखते नहीं, यह वास्तविकता है । अनेक भूलों और निष्फलताओं का कारण यही अज्ञान है ।

कॉलेज में विज्ञान या कला–या वाणिज्य–पसन्द करते समय, और उसमें भी अर्थशास्त्र या साहित्य, इंजीनियरी या डॉक्टरी चुनते समय, विद्यार्थी की कितनी ही भूलें शिक्षकों को दुखी हृदय से देखनी पड़ती हैं । इन भूलों के अनेक कारण होते हैं, लेकिन उनके मूल में विद्यार्थी का ही– अपनी रुचि, स्वभाव एवं कुशलता-विषयक–घोर अज्ञान होता है ।

प्रभावशाली जर्मन विद्यार्थी के०एफ़० गाडस सत्रह वर्ष की आयु तक निर्णय नहीं कर सका था कि वह भाषा-शास्त्री बने या गणित-शास्त्री । सौभाग्य से उसी अरसे में, एक रात, उसने समबाहुकोण त्रिभुज की रचना-विषयक एक महत्त्व की शोध की और इस शोध के आनन्द में ही गणित विषय को अपनाने का निर्णय किया । ठीक समय के इस निर्णय से उसका वास्तविक जीवन-कार्य उसे मिल गया । उसका सारा दीर्घ जीवन गणित की उच्च सेवा से दीप्त हो उठा और उसके कार्य से गणित के इतिहास

ने एक नया मोड़ लिया ।

तुम्हारा स्वभाव कैसा है ? किस प्रकार के मित्रों को तुम पसन्द करते हो ? तुम्हारे सम्बन्ध में दूसरे क्या-क्या सोचते हैं ? भविष्य के लिए तुम्हारे मन में कौन-कौन-सी कल्पनाएँ घूमती रहती हैं ? ''क्या करने से मेरा जीवन सार्थक होगा ?'' इस प्रश्न का अपने मन से तुम कैसा जवाब दोगे ?'' ''मैं भावनाप्रधान हूँ, विचारशील हूँ या व्यवहारकुशल हूँ ?'' इस विषय में तुम विश्वास-पूर्वक क्या कह सकते हो ?

तुम्हारा नाम और पता कोई पूछे, तो तुम तुरंत जवाब देते हो ! अगर कोई यह पूछे कि तुम्हारा व्यक्तित्व कैसा है, तो तुम्हारे पास क्या उत्तर है ?

जाँच-पड़ताल शुरू कर दो ।

अपने-आपको परखने लगो । अपना पूर्ण परिचय प्राप्त कर लो ।

ऐसा करने से तुम्हारे व्यक्तित्व का चरित्र तुम्हारे मन में आप ही उभर आयगा । प्रेरणा मिलेगी, उत्साह जागेगा और व्यक्तित्व-निर्माण करने का–उसके द्वारा जीवन-कार्य सिद्ध करने का–सचेत प्रयत्न शुरू हो जायगा ।

ठण्डे पहर में आगे न बढ़े,
तो धूप के समय हैरान होगे ! (रवीन्द्र ठाकुर)

३

०

वृत्ति और इच्छाएँ

तुम्हारी बुद्धि और स्मरण-शक्ति, तुम्हारा शरीर और दिखाव, तुम्हारी परिस्थिति और संयोग, चाहे कैसे भी हों, तुम एक प्रोज्ज्वल व्यक्तित्व निर्माण कर सकते हो ।"

गुस्सा आया और झगड़ा हुआ । पड़ोस में शोर-गुल मचा । फिर समाधान होने पर—"मैं लाचार हूँ, मेरा स्वभाव ही ऐसा है । मुझे स्वंय ही यह पसन्द नहीं, परन्तु क्या करूँ, लाचार हूँ ।" इत्यादि शब्द बोले गये ।

अपना स्वभाव तुमने पसन्द नहीं किया, यह सच है । तुम्हारा शरीर, तुम्हारी बुद्धि और तुम्हारी कल्पना-शक्ति तुम्हें विरासत में मिले हैं । साथ ही घर, स्कूल, कॉलेज, समाज और आसपास के वातावरण का प्रभाव तुमपर पर्याप्त मात्रा में पड़ता है ।

कलाकार के हाथ में कच्चा माल सौंपा गया है । इस कच्चे माल से कलाकृति का सृजन करना अब कलाकार का काम है ।

शरीर, बुद्धि, स्वभाव आदि को व्यक्तित्व के लिए कच्चा माल कहा जा सकता है । इसमें व्यक्तित्व का निर्माण करना तुम्हारा काम है । निस्संदेह, इसमें मर्यादा तो है ही । तुम्हारा शरीर पहलवान-सा न हो, तो कुश्ती के प्रयोगों में बहुत सफलता मिलना संभव नहीं । परन्तु तुम्हारी भावना और तुम्हारा आदर्श तुम्हारे

शरीर और बुद्धि से, आशा से कहीं अधिक, काम ले सकते हैं। विश्वयुद्ध में पैरों के कुचल जाने पर भी, लकड़ी के सहारे चलता हुआ फ्रेंच सैनिक जी० मीमून पाँच वर्ष पश्चात् मैरैथॉन दौड़ में विश्वविजेता हुआ था। यह तथ्य मर्यादा की भी मर्यादा बताता है।

तुम्हारी बुद्धि और तुम्हारी स्मरण-शक्ति चाहे कैसी हो, तुम्हारा शरीर और तुम्हारी आकृति कैसी भी हो, तुम्हारी परिस्थिति और तुम्हारे संयोग कैसे भी हों, इनसे तुम एक प्रोज्ज्वल व्यक्तिव निर्माण कर सकते हो ।

किस प्रकार ?

मनुष्य का व्यवहार अपनी वृत्तियों के समाधान एवं इच्छाओं की सन्तुष्टि के प्रयत्न का परिणाम-रूप होता है । भूख लगी, इसलिए मुँह में ग्रास डाला; कुतूहल जागा, इसलिए देखने को दौड़ा; अकेलापन खटका, इसलिए मित्रों की खोज में निकला ।

ऐसी वृत्तियाँ प्रत्येक मनुष्य में होती हैं और प्रत्येक मनुष्य उन्हें सन्तुष्ट करने का प्रयत्न भी करता है । परन्तु अन्तर है प्रयत्न करने की रीति में । जंगली मनुष्य किसी प्राणी को मारकर उसे यों ही खा जाता है । संस्कारी मनुष्य, डॉक्टर की सलाह के अनुसार भिन्न-भिन्न पोषण-तत्त्व-युक्त खाद्य पदार्थ बनाकर भोजन करता है । इस प्रकार एक ही वृत्ति के दो पहलू हैं और उसमें से दो प्रकार के व्यवहार और व्यक्तित्व उभरते हैं । इसलिए सबसे प्रथम इन मूल वृत्तियों और आवश्यकताओं का स्पष्ट भान हमें होना चाहिए । संक्षेप में हम उन्हें देखें ।

शारीरिक वृत्तियाँ : भूख और प्यास, निद्रा और विश्राम, वायु और व्यायाम, सर्दी-गर्मी से रक्षण ..., स्वस्थ शरीर का यह अनुमान-पत्र है । इसमें किफ़ायत न करो । देह, व्यक्तित्व का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग नहीं, परन्तु एक अंग तो है ही । देह-पूजा

जैसे अयोग्य है, वैसे ही उसकी उपेक्षा भी अनुचित है ।

''प्रकृति इस बारे में कैसी है, इसकी ख़बर है ? लगभग पठान-जैसी । दिये हुए कर्ज़ को वसूल करने में देर लगाती है, परन्तु हिसाब रखने में भूल नहीं करती । जवानी में जब हम शरीर की अनेक ढंग से उपेक्षा करते हैं, अथवा उसपर ज़्यादा भार लादते हैं, तब प्रकृति हँसते-मुँह देती जाती है; हमें ख़बर भी नहीं पड़ने देती कि एक दिन देना बंद करके वसूल करना शुरू कर देगी। अंत में पठान की तरह, लाठी लेकर ठक-ठक करती जब द्वार पर आवाज़ लगाने लगती है, तब अचानक हमें ख़बर पड़ती है कि ब्याज मूल की अपेक्षा अधिक बढ़ गया है ।'' (टैगोर)

मानसिक वृत्तियाँ : तुम्हारा मन अनेक प्रश्न पूछ रहा है । यह जीवन कहाँ से आया ? क्यों ? किसलिए ? दुनिया के विषय में, दूसरे मुनष्यों के विषय में, देश-परदेश के विषय में, विज्ञान और इतिहास के विषय में, अधिक-ही-अधिक जानने की तुममें इच्छा है ।

यदि प्रश्न उठे—मन को प्यास लगे, तो उसका जवाब पाये बिना, प्यास बुझाये बिना, चैन नहीं पड़ता । और बुद्धि की थाह कौन पा सकता है ? जितना अधिक वह जानती है, उतना ही और अधिक वह जानना चाहती है ।

इस प्रकार के स्पष्ट विचार—अपने विषय में, दुनिया के विषय में, साध्य-साधन के विषय में—दृढ़ व्यक्तित्व की बुनियाद हैं । महान् नेताओं का यह एक आवश्यक लक्षण है । लक्ष्य निश्चित हो, तभी आगे दौड़ा जा सकता है न !

सामाजिक वृत्तियाँ : ''समाज में मेरा स्थान है, मेरा जीवन उपयोगी, सुरक्षित और स्वतंत्र है ।'' ऐसा विश्वासपूर्वक कहने का अधिकार मनुष्य प्राप्त करना चाहता है । आश्रित जीवन

अनिश्चित जीवन, पराधीन ज़ीवन, निष्फल जीवन किसे पसंद है ? परीक्षा में नम्बर लाने के लिए रात-दिन एक कर पढ़ता हुआ विद्यार्थी, खेल-कूद में पदक जीतने के लिए रोज़ घंटों तक प्रशिक्षण लेता हुआ खिलाड़ी, नौकरी में आगे बढ़ने की आशा से बिना वेतन अधिक समय काम करता हुआ कर्मचारी–ये सब उपर्युक्त उत्कट अभिलाषा के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

और मनुष्य को समाज में धकेलनेवाली सबसे प्रबल वृत्ति प्रेम-वृत्ति है । प्रेम करना और पाना मानव-मात्र की अदम्य वृत्ति है । इस एक ही वृत्ति को अलग-अलग ढंग से सन्तुष्ट करने के प्रयत्न से, कैसे अलग-अलग परिणाम आते हैं, इसका अत्यधिक स्पष्ट उदाहरण भी यह प्रस्तुत करती है ।

प्रेम के प्रताप से मानव-जाति के इतिहास में सबसे उज्ज्वल पृष्ठ लिखे गये हैं, और प्रेम के नाम से मलिन व्यवहार भी दुनिया में चला है । बाप-बेटा, मित्र-मित्र, पति-पत्नी, इन तीन संबंधों को सफल बनाने में व्यक्तित्व की पूरी परीक्षा होती है ।

आध्यात्मिक वृत्तियाँ : मानव-जीवन के अमुक प्रश्न ऐसे हैं, जो सिर्फ़ बुद्धि से सुलझते नहीं । जीवन का अर्थ, दुःख-विषयक प्रश्न, मरण की समस्या, त्यागवृत्ति वग़ैरह प्रश्न ऐसे ही हैं । वस्तुतः सम्पूर्ण विश्व-दर्शन प्राप्त करने और जीवन में बड़ी-से-बड़ी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी आगे बढ़ने का हौसला बनाए रखने के लिए आध्यात्मिक श्रद्धा आवश्यक है ।

हमारे हृदय में ऐसी भावना घर किये बैठी है कि इस दुनिया के मूल में एक मंगल शक्ति है । उसपर विश्वास रखने में ही हमारी सच्ची सुरक्षा है । हमारा न्याय उसके हाथों में है । बड़े-से-बड़ा बलिदान भी, उसकी प्रेरणा से, देने को हम तैयार हो जाते हैं । संतुलित व्यक्तित्व में, इस सहज वृत्ति का और इसे विवेक-पूर्वक

शान्त करने का भी समावेश होना चाहिए ।

इस प्रकार मानव की आवश्यकताएँ कम नहीं ।

शरीर, मन और हृदय, प्रत्येक अपना-अपना हिस्सा माँगते हैं; और किसी-किसी समय, भिन्न-भिन्न वृत्तियों में, परस्पर विरोध भी उत्पन्न हो जाता है । मन के विरुद्ध शरीर, अथवा बुद्धि के विरुद्ध भावना, क्या बहुधा विद्रोह नहीं करते ? इसलिए इन सब वृत्तियों का समन्वय करके, प्रत्येक का यथायोग्य विकास साधने की ज़रूरत है । यह काम व्यक्ति का ही है और यह काम पूर्ण करके ही, वह 'व्यक्ति' बनता है । वृत्ति का प्रभाव जैसे व्यक्तित्व पर पड़ता है, वैसे ही व्यक्तित्व का वर्चस्व, वृत्तियों पर रहना चाहिए ।

जानने का कुतूहल शान्त करने के लिए, तुम सामान्य सामयिक पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ सकते हो, और ग्रन्थों का अध्ययन भी कर सकते हो । उससे पता चलता है कि मूल वृत्ति तो एक ही थी, परन्तु उसे शांत करने के विभिन्न ढंगों से परिणाम कैसे भिन्न-भिन्न आये ।

सफलता प्राप्त करने की वृत्ति भी प्रत्येक मनुष्य में होती ही है । कुछ लोगों को वह तन-तोड़ मेहनत करने को प्रेरित करती है, जबकि अधिकांश को वास्तविक जीवन में हार खाकर दिव्य-स्वप्नों की खोटी सृष्टि में आश्रय लेना सुझाती है ।

आध्यात्मिक वृत्ति भी प्रत्येक में है; परन्तु बहुतों में वह अंधश्रद्धा और वहम का विकृत रूप धारण करती है, जबकि गिने-चुने लोगों में वह बुद्धि-युक्त भक्ति का उत्कृष्ट रूप धारण करती है ।

इन वृत्तियों और इन आवश्यक वस्तुओं को लेकर, तुम्हें अपने व्यक्तित्व का निर्माण करना है । इनमें से एक की भी उपेक्षा न

करो; हाथ से जाने न दो ।

गृहशिल्पी योजना बनाता है ।
अर्थशास्त्री ख़र्च का अन्दाज़ा लगाता है।
मुसाफ़िर नक्शा खींचता है ।

मकान, व्यापार और तुम्हारी यात्रा की तरह तुम्हारा व्यक्तित्व क्या इतनी तैयारी भी नहीं चाहता ?

मुझे जो सुगम लगता है, वह काम मैं करता हूँ !
अथवा जो मुझे पसन्द हो, वह करता हूँ ।
या जो काम मैं उत्तम ढंग से कर सकूँ, वह करता हूँ ।
अथवा जो काम करना मेरा
निश्चित कर्त्तव्य है, वह करता हूँ ।
जो मेरा कर्त्तव्य है, वही करना मुझे साध्य,
प्रिय, और सहज हो जाय, ऐसा कब होगा ?

(काका सा० कालेलकर)

४

०

बुद्धि-विकास

''बुद्धि के विकास के बिना व्यक्तित्व का विकास अशक्य ही है ।''

''ज्ञान और जानकारी में अन्तर है। वास्तविकता जानू तो जानकारी मिल गई । ख़बर मिली कि मन में एक नई बात आई । वर्ग में बैअे कि पाठ सीखा ।''

यह जानकारी है, समाचार है, सूचना से अवगत होना है । परंतु ज्ञान की कोटि में अभी तक यह आता नहीं। जीवन में इतनी अवगति–मात्र से व्यक्तित्व का निर्माण नहीं होता।

थैली में पुस्तकें भर लेने से थैली को क्या फ़ायदा ? वह फूल गई, इतना ही न ? मन में सूचनाओं के समूह भर देने से मन को क्या लाभ ?

भूमिति का प्रमेय तुमने सीखा। कर्ण के ऊपर बनाये गए वर्ग कौर क्षेत्रफल, त्रिभूज की दूसरू दो भुजओं पर बनाये गए दोनों वर्गों के क्षेत्रफल के जोड़ के बराबर होता है, यह वास्तविकता है । इस प्रमेय की खोज किसने, कहाँ और कब की, इसके भिन्न–भिन्न कितने प्रमाण दिये जा सकते हैं, पहले के प्रमेयों के साथ यह किस प्रकार सम्बद्ध है तथा इससे कौन–से नये–नये परिणाम निकाले

जा सकते हैं, इसका महत्त्व क्या, इसका उपयोग क्या, इसके विस्तृत सम्बन्ध कौन-कौन-सी दिशाओं में देखे जा सकते हैं–इस प्रकार इस एक वास्तविकता के विविध पहलुओं की यथासंभव सूक्ष्म जाँच करके उसे पचाने- आत्मसात करने- का पूरा प्रयत्न करोगे, तभी तुम्हारे ज्ञान में वृद्धि हुई; ऐसा कहा जा सकेगा ।

यह कार्य बुद्धि का है ।

बुद्धि के प्रताप से मानव प्रगति कर सकता है और दूसरे प्राणियों से पृथक् होकर मानव बन जाता है ।

मधुमक्खियों का कार्य अद्भुत है। कम मोम का उपयोग कर अधिक जगह समा लेने के लिए मधुकोष (शहद के छत्ते) के कोन कैसे रखने चाहिएँ, यह सवाल हमारे युग के गणितज्ञ कलन-शास्त्र (कलकुलस) की सहायता से सुलझा सके हैं, जबकि उसका जवाब मधुमक्खियों को तो वेदकाल से ही मालूम था! तो भी मधुमक्खियों के जीवन और कार्य का जो वर्णन प्रथम शती के रोमन कवि वर्जिल ने किया था, उसका अक्षर-अक्षर आज की मधुमक्खियों पर भी लागू होता है। बीस शतियों में इस दिशा में और कोई प्रगति नहीं हुई।

प्रगतिशील बुद्धि मनुष्य का लक्षण है । इसलिए वह हरएक व्यक्ति का भी लक्षण है; अर्थात् व्यक्तित्व का वह एक महत्त्वपूर्ण अंग है। उसके कार्य, उपयोग और विकास के बारे में स्पष्ट विचार होना आवश्यक है ।

बुद्धि विरासत में मिलती है, अथवा अभ्यास से प्राप्त होती है ? बुद्धि जवानी में अधिक होती है, या प्रौढ़ावस्था में ? बुद्धि का स्मरण-शक्ति और कल्पना-शक्ति के साथ क्या संबंध है ? बुद्धि का कार्य-क्षेत्र कौन-सा है।

एक बात का दूसरी बात के साथ संबंध देखना, अनुमान करके

एक सत्य में से दूसरा सत्य ढूँढ निकालना, गुप्त सकेतों को समझना और उनका उपयोग करना, परिस्थिति के अनुसार उचित-अनुचित व्यवहार का विवेक करना, ये मानव-बुद्धि के लाक्षणिक कार्य हैं ।

दुनिया में ज्वार-भाटे का अनंत चक्र चलता ही रहता है, और आकाश में सूर्य-चन्द्र घूमते ही रहते हैं । ये दोनों भिन्न-भिन्न क्रियाएँ दो स्वतंत्र तथ्य प्रतीत होते हैं; लेकिन इन दोनों के बीच गाढ़ा संबंध है । "चंद्र निकट आया, फलतः आकर्षण-बल से समुद्र का जल उसकी ओर खिच गया।" इसकी खोज तो तीव्र बुद्धि के पुरुषार्थ का ही परिणाम है ।

दूसरा दृष्टांत लीजिये । अमुक औषध का अमुक रोग के साथ संबंध है, यंह जानने के प्रयत्न में चिकित्सा-शास्त्र का सम्पूर्ण इतिहास समाया हुआ है । संबंध खोजा, घटना के कारण एवं परिणाम समझे कि 'मानवोचित ज्ञान' प्राप्त किया।

अनुमान करने की शक्ति तथा वृत्ति भी बुद्धि की खूबी बताती है । उसका एक उज्ज्वल दृष्टांत भूमिति का समूचा इतिहास है । सिर्फ़ पाँच सरल सिद्धान्त लेकर, और फिर उनमें से अनुमान पर अनुमान निकाल-निकालकर, यूक्लिड ने तेरह ग्रन्थों में, सम्पूर्ण प्रमाणित भूमिति-शास्त्र की रचना कर डाली । यह एक विचित्र सिद्धि है, जो मानव-बुद्धि की अद्भुत शक्ति का परिचय देती है । अटकल तो मूर्ख भी लगा सकता है, किन्तु 'तर्कशुद्ध अनुमान' कुशाग्र-बुद्धि का ही विशेषाधिकार है ।

संकेत विज्ञान की भाषा ही है । शब्द भी विचारों के संकेत ही हैं, यह कैसे भुलाया जा सकता है ? विचारों को वाक्यों में व्यक्त किया, प्रकृति के नियमों को सूत्रों में बाँधा और पदार्थों के समीकरण खोजे, तभी मनुष्य को सन्तोष हुआ।

संस्कृति संकेतों का साम्राज्य ही है । 'मोहेंजोदड़ो' की मुद्राओं से लेकर आइंस्टीन के सापेक्षवाद के समीकरणों तक मानव-संस्कृति का इतिहास, ऐसी सांकेतिक संज्ञाओं के साथ संकलित है, यहाँ तक कि आज के बहुत-से मनोवैज्ञानिक संकेतों को समझने और उनका उपयोग करने की शक्ति में बुद्धि की श्रेष्ठता अनुभव करते हैं । गणित में संकेतों का विशेष उपयोग होनें से उसमें बुद्धि की खरी कसौटी होती है, ऐसा लगे बिना न रहेगा; परन्तु मुझ-जैसे गणित-शिक्षक से ऐसा पक्षपात कैसे किया जा सकता है ?

विवेक-शक्ति भी आख़िर बुद्धि का ही महत्त्वपूर्ण लक्षण है। किस प्रसंग में कैसा व्यवहार शोभेगा, क्या करने से कैसा अच्छा-बुरा परिणाम आयगा, यह पहले से जान लेना, मनुष्यों के स्वभाव को ठीक-ठीक परख लेना और अपनी तथा दूसरों की मर्यादाओं का ध्यान रखकर समाज में संतोषपूर्वक जीना सीखना— ये सब कार्य बुद्धि के योग्य मार्गदर्शन द्वारा ही सम्पन्न होते हैं।

संबंध, अनुमान, संकेत, विवेक– यह है मानव-बुद्धि का कार्यक्षेत्र। इन विभिन्न कार्यों से सम्बद्ध विविध शक्तियाँ व्यक्ति में निहित हैं और प्रत्येक अपने-अपने परिमाण में विकास पा सकती है; परन्तु सब एक-दूसरे के साथ जुड़ी हुई हैं। एक अवरुद्ध हो जाय, तो दूसरी का विकास असंभव है। इस प्रकार स्मरण-शक्ति सर्वथा पृथक् शक्तियाँ नहीं हैं। 'स्मरण-शक्ति मूर्ख की बुद्धि है', इस लोकोक्ति को आधुनिक शोधों ने ग़लत ठहराया है। जिसकी बुद्धि कम, उसकी स्मरण-शक्ति भी कम होती है।

मनुष्य अपनी बुद्धि का चाहे जितना और चाहे जिस दिशा में विकास कर सकता है क्या? बालक पाँच वर्ष तक बोलना न सीखे,

तो क्या भविष्य में साहित्य-संसार में वह अच्छा नाम कमा सकेगा? स्कूल में गणित कच्चा रह जाय, तो कॉलेज में क्या वह पक्का हो सकेगा? प्राथमिक पदार्थ-विज्ञान के प्रयोगों पर जिसका हाथ न सधे, वह भी क्या अणुशास्त्री हो सकता है?

जवाब प्रायः 'न' में ही है।

बुद्धि विरासत में ही मिलती है। प्रत्येक व्यक्ति में उसकी मर्यादा होती है। पूरे प्रयत्न के पश्चात् अभ्यास की जो प्रवृत्ति बनती है उसका कायम रहना संभव है। परन्तु 'पूरा प्रयत्न' यह आवश्यक शर्त है। इसलिए आलस्य की कभी गुँजाइश नहीं रहनी चाहिए। बुद्धि की मर्यादा का आश्रय लेना वस्तुतः बुद्धि की मर्यादा ही सूचित करता है।

शारीरिक विकास की ही तरह बौद्धिक विकास का भी मानचित्र खींचा जा सकता है। तरुणावस्था के प्रारंभिक वर्षों में विकास की गति तेज़ होती है, विकास-रेखा ऊँची-से-ऊँची चढ़ती जाती है। अठारह से चौबीस वर्ष तक भी विकास-रेखा चढ़ती रहती है, परन्तु धीरे-धीरे। पचासवें वर्ष तक वह सम रहती है, और उसके बाद नीचे उतरने लगती है।

इस प्रकार प्रायः चौबीसवें वर्ष तक बुद्धि का विकास होता है। इसीलिए इस अरसे में उसकी विशेष देखभाल करनी चाहिए। इन वर्षों में बुद्धि का सिंचन न हो तो वह पूर्ण रूप से खिलेगी नहीं। बीज बोने के बाद पानी न डालो तो उससे उत्पन्न होने वाला वृक्ष भला कैसे मजबूत होगा?

विज्ञान की बहुत-सी खोजें वैज्ञानिकों ने युवावस्था में ही की हैं, यह एक तथ्य है। न्यूटन ने कलन-शास्त्र की तेईसवें वर्ष में खोज की, जबकि लाग्राज ने विचलन-शास्त्र की उन्नीसवें वर्ष में। गालोआ ने समूह-शास्त्र बीसवें वर्ष में प्रस्तुत किया और

आइंस्टीन ने सापेक्षवाद का सिद्धान्त छब्बीसवें वर्ष में सिद्ध किया।

यह जानने के पश्चात् जवानी के अमूल्य वर्षों को आलस्य, भोग-विलास अथवा तोतारटन्त ज्ञान प्राप्त करने में बर्बाद करना कौन पसंद करेगा?

बुद्धि के विकास के बिना, व्यक्तित्व का विकास अशक्य है।

सुघड़ व्यक्तित्व प्राप्त करना हो, तो मन लगाकर पढ़ो, संबंधों को खोजो, संकेतों का परिचय बढ़ाओ, विवेक-शक्ति विकसित करो, अपने सिद्धान्तों को स्पष्ट करो, विचारों पर क़ाबू रखो।

विचार के अनुसार ही मनुष्य का व्यवहार होता है।
विचार ही मनुष्य-जाति का इतिहास लिखाते हैं।
विचार ही दुनिया का संचालन करते हैं।

५

०

मनोबल

"मनुष्य अपने विचारों, भावनाओं, रुचियों एवं वृत्तियों को विशिष्ट दिशा में मोड़कर कुशल व्यक्तित्व का निर्माण कर सकता है।"

बुद्धि व्यक्तित्व का मानदण्ड नहीं।

परीक्षा में ऊँचा स्थान पाना, व्यक्तित्व में ज़मीन आसमान का अन्तर, ऐसे अनेक दृष्टान्त क्या तुमने देखे नहीं?

बुद्धि को संचालित करने वाली एक दूसरी शक्ति मनुष्य में है। उसका प्रभाव बुद्धि, इन्द्रियों तथा शरीर पर भी पड़ता है। वह समान बुद्धिवालों में विभिन्न विचार उपजाती है, तथा समान देहवालों से अलग ढंग की मेहनत कराती है। वह घटिया माल से बढ़िया काम करके बताती है और कभी बढ़िया माल लेकर विकृत परिणाम भी पैदा करती है।

"मैं चाहूँ तो प्रथम श्रेणी ला सकता हूँ।" मैं चाहूँ तो ! इसे एक महामंत्र ही कहिये। चाहना, मंसूबा, दृढ़ संकल्प, इच्छा शक्ति, आत्मबल !

इसके सामने सब मुश्किलें सरल बन जाती हैं; एक भी विघ्न इसके प्रहार के सामने ठहर नहीं सकता।

इच्छाशक्ति अणुशक्ति से भी अधिक प्रबल है।

होमर अंधा था, फिर भी दुनिया के प्रख्यात महाकाव्य का निर्माता बना।

डेमोस्थनीज़ तुतलाता था, फिर भी दुनिया का सबसे अधिक प्रभावशाली वक्ता हुआ।

हेलन कीलर अंधी, बहरी और गूँगी थी; फिर भी खूब पढ़ी, पी-एच०डी० की डिग्री प्राप्त की और विश्वख्याति प्राप्त की।

व्हिलमा रुडोल्फ़, बचपन में ही पैर में लकवा हो जाने से वर्षों तक शय्याग्रस्त रहने को बाध्य हुआ; फिर भी ज्यों-त्यों प्रशिक्षण लेकर ऑलिम्पिक खेलों की दौड़-स्पर्धा में उसने तीन स्वर्ण-पदक जीते और वीरता का नया रिकॉर्ड क़ायम किया।

इस प्रकार के दृष्टांतों को देखकर ही एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ने लिखा है– "धन, बाहुबल, स्वास्थ्य तथा बुद्धि का स्थान भी, मनोबल ले सकता है," यह इन उदाहरणों से सिद्ध होता है। महापुरुषों को महापुरुष बनानेवाला यही आत्मबल है।

मन हो तो मालवे जाना मुश्किल नहीं।
लेकिन मन हो तभी न।
मनोबल हो तभी।
संकल्पशक्ति हो तभी।

तुम्हारे जीवन-रथ में तेज़ घोड़े जुते हुए हैं– इन्द्रियां, बुद्धि, भावना, कल्पना...लेकिन लगाम तुम्हारे हाथ में रहे और घोड़े तुम्हारा हुक्म वरावर मानें, तभी तुम्हारा रथ जीवनपथ पर वायुवेग से दौड़ सकता है।

और घोड़े हैं बड़े चंचल।

इन्द्रियाँ, मनोवाञ्छित वस्तुओं की ओर अंधी होकर दौड़ेंगी ; विचार उलझन पैदा करेंगे; भावनाओं के बीच खींचातानी होगी।

सारथि फिर क्या करे?

प्रत्येक अश्व को मनमानी करने दे? अथवा लगाम खींचकर सबको स्वयं निर्धारित रास्ते पर ही एक-साथ हाँके?

घोड़े को साधने की एक रीति है–लगाम बराबर खींचे रखना।

इन्द्रियों को क़ाबू में रखने की एक ही युक्ति है–उनसे प्रतिकूल काम कराते रहना।

"अच्छा लगता है, इसलिए करता हूँ; अच्छा नहीं लगता, इसलिए नहीं करता।"

"पसन्द है, इसलिए खाता हूँ; पसन्द नहीं, इसलिए नहीं खाता।"

"रस आता है, इसलिए पढ़ता हूँ; जी ऊब जाता है तो पढ़ना बंद कर देता हूँ।"

लेकिन मालिक कौन? घोड़ा या घुड़सवार? इन्द्रियाँ या मन?

आत्मबल साधने, लगाम हाथ में रखने और व्यक्तित्व विकसित करने के लिए, संयम की ज़रूरत है।

संयम।

आत्मानुशासन।

त्यागवृत्ति।

संन्यास लेने की बात नहीं, जीवन की दीक्षा लेने की बात है। मानव– व्यक्ति को ही राजगद्दी पर बिठाने की बात है।

जो मनुष्य अपनी वृत्तियों के अधीन रहता है, इन्द्रियों के इशारे पर नाचता है, इन्कार करना जानता ही नहीं, वह ठीक मनुष्य नहीं।

अमुक अफ्रीकी जातियों में युवक जब वयस्क होता है, तब समाज में विधिपूर्वक प्रवेश के लिए उसकी कड़ी परीक्षा ली जाती है। धनुष-बाण देकर उसे जंगल में एक सप्ताह के लिए अकेला

छोड़ दिया जाता है। शर्त यही कि इस बीच यह बाण का उपयोग न करे। वह ठहरा स्वभाव से ही शिकारी, इसलिए इधर हिरण कूदा कि उधर तीर छूटा समझो। परन्तु इन आठ दिनों तक हिरण या गीदड़, शुतुरमुर्ग या जिराफ़, शेर या चीता आदि कोई भी दिखाई पड़े, चाहे नज़दीक ही क्यों न आ जाय, हाथ धनुष पर जायगा ज़रूर, तीर भी ज़रूर कमान पर जब-तब चढ़ेगा ज़रूर, परन्तु मन हाथ को थामे रखेगा। भय लगेगा, भूख सतायेगी; परन्तु हाथ नहीं उठेगा। इतना संयम यह जवान दिखा सके, तभी ग्राम के पुरुषों में सम्मिलित होने का अधिकार वह प्राप्त कर सकेगा।

पाइथोगारस के नाम से तुम परिचित हो। उसके प्रसिद्ध प्रमेय से भी तुम्हारा परिचय होगा ही। परन्तु उसके एक दिलचस्प रिवाज को तुम शायद न जानते हो। इतिहास में उसका उल्लेख है-पाइथागोरस और उसके अनुयायी कभी-कभी दावत के लिए इकट्ठे होते; मिष्ठान बनाते, भाँति-भाँति के खाद्य पदार्थ परोसते, एक-एक वस्तु को सराहते, टकटकी लगाकर देखते, परन्तु खाते कुछ भी नहीं। मुँह से पानी छूटता, परन्तु हाथ आगे न बढ़ते। अन्त में भोजन को स्पर्श किये बिना भूखे पेट ही उठ जाते। पेट को ख़ूराक न मिली, लेकिन मन को तो पोषण मिल गया न!

फ़क़ीरी ग्रहण करने की ज़रूरत नहीं; त्याग की ख़ातिर त्याग करना व्यर्थ है; परन्तु इच्छाशक्ति को विकसित करने तथा इन्द्रियों पर मन का नियंत्रण कायम करने के लिए, देह को थोड़ा कष्ट देना ठीक और आवश्यक है।

शिल्पी गढ़-गढ़कर, संगमरमर को तराश-तराशकर, शिला में से अपनी कल्पना के अनुसार आकृतियाँ बनाता है।

कुम्हार मिट्टी को रौंद-रौंदकर मन-पसन्द बर्तन गढ़ता है।

माली घास-डाली-पत्तियों को काट-छाँटकर रमणीय बगीचा

बनाता ह।

और मनुष्य भी अपने विचारों, भावनाओं, रुचियों एवं वृत्तियों को विशिष्ट दिशा में मोड़कर, कुशल व्यक्तित्व का निर्माण करता है।

बाहर से थोपा हुआ अनुशासन गुलामी है; परन्तु स्वेच्छा से अपनाया हुआ आत्मानुशासन, व्यक्तित्व का सिरमौर है।

एक दिन मिठाई न खाने से अथवा प्यास लगने पर पानी तुरन्त न पी कुछ काल बाद पीने से तबीयत बिगड़ती नहीं; लेकिन मन मज़बूत होता है।

एक दिन अख़बार न पढ़ने से, अथवा मज़ेदार उपन्यास आज के बदले कल पूरा करने से, नुकसान कुछ न होगा; लेकिन संयम का लाभ ज़रूर मिलेगा।

ऐसी छोटी-छोटी बातों से इच्छाशक्ति सुदृढ़ होती है, इसलिए इनका अभ्यास नित्य प्रति करना चाहिए। जैसे किसी दूसरी प्रकार की शिक्षा में, वैसे ही मन के शिक्षण में भी, सफलता का रहस्य विशेष रूप से 'नियमितता' ही है। आदत डाली कि विजय मिली समझो।

मनुष्य का व्यवहार उसकी आदतों के अनुसार होता है। इसलिए छोटी बातों में लिया गया शिक्षण जीवन के कठिन प्रसंगों में भी ज़रूर काम आता है।

"मालिक मैं हूँ। लगाम मेरे हाथ में है !"

अपनी इस अद्भुत शक्ति का– संकल्प करने की, निश्चय करने की, स्वतंत्र रूप से पसन्द करने की शक्ति का–अनुभव करो! "मैं चाहता हूँ" ये शब्द हृदय की गहराई से, दृढ़ निश्चय से बोलना सीखो। "मेरी इच्छा है", "मेरा निर्णय है"– इन जादूभरे शब्दों का चमत्कार अनुभव करो। तुम्हारे जीवन में ये अवश्य परिवर्तन

लायेंगे।

एक प्रख्यात देश-नेता से एक युवक ने पूछा, "आपके समान महान् होने के लिए मुझे क्या करना चाहिए?" जवाब मिला, "इच्छा करो, बस इतनी ही देर है।"

हाँ, इच्छा हो तो– वास्तविक इच्छा हो तो।

लेकिन इच्छा और तरंग में फ़र्क है।

"ऐसा हो तो कितना अच्छा!" यह आलसी का स्वप्न है।

"ऐसा होना ही चाहिए, और मैं यह करके ही रहूंगा!" यह कर्मवीर की हुँकार है।

इच्छाशक्ति मुनष्यों का संचालन करनेवाली मुख्य शक्ति है। जो अपने पर शासन करता हो, वही दूसरों का नेता (शासक) बन सकता है।

इस शक्ति को हस्तगत, पुष्पित, पल्लवित करने के लिए अभी से कमर कसो।

कसरत से शरीर मज़बूत होता है।

अभ्यास से मन विकसित होता है।

रोज़ के अभ्यास से इच्छाशक्ति प्राप्त होती है।

और दृढ़ मनोबल से व्यक्तित्व बनता है।

६

o

भावनाओं का जंजाल

"घोर निराशा में याद रखो कि अमावस के बाद पूर्णिमा आयेगी ही। रात्रि के बाद प्रभात फिर उदय होगा।"

हम कहते कुछ हैं और करते कुछ और ही हैं।

आदर्श और व्यवहार के बीच गहरी खाई रहती है।

कहाँ मेरी कल्पनाओं और आकांक्षाओं से उभरता मेरा चित्र और कहाँ मेरे नाम से पुकारा जानेवाला मिट्टी का यह ढेर?

निर्णय किया था पाँच बजे उठने का, परन्तु आलस्य ने धर दबाया इसलिए पाँच के बदले सात बज गये। वचन दिया था कि गुस्सा नहीं करूँगा, परंतु ज़रा-सी बात का बुरा लगा और मेरे शोरगुल से सारा मुहल्ला गूँज उठा। रोज़ की तरह रात को पढ़ने तो बैठा, परन्तु घर से बुरी ख़बर आने से मन चिन्तित होकर दु:ख में डूब गया, और पढ़ना एक ओर रह गया।

नक़्शे में रास्ता तो सीधा ही खींचा था, परन्तु जीवन के जंगल में से होकर जाने से वह टेढ़ा-मेढ़ा हो गया। और रास्ता जितना टेढ़ा-मेढ़ा, उसे बनाने का ख़र्च उतना ही अधिक, और उस पर चलने की रफ़्तार भी कम। जीवन-पथ के निर्माण में ऐसी भूल नहीं

निभती !

हममें सिर्फ़ विचार-तंत्र और निर्णय-तंत्र होते तो काम सरल होता। मन दिशा बताता और दिल चलने की आज्ञा देता। मन और दिल के बीच भावनाओं के बहुत-से सूक्ष्म तार भी फैले हुए हैं। उनके स्पन्दन से मन की दृष्टि बदल जाती है और दिल के निर्णय फिर जाते हैं।

भय और चिन्ता, क्रोध और क्षोभ, संकोच और निराशा, ये भाव मनुष्य के मन और हृदय में घूमते ही रहते हैं। और अगर मनुष्य सावधान न रहे, तो वे अपने निर्धारित कार्य उससे करा लेते हैं। भय उसे भगा देगा, चिन्ता उसका जी खा जायगी, क्रोध उसे पशु बना देगा, निराशा और उदासीनता उसकी शक्ति लूट लेंगी। फलतः निर्धारित रास्ते पर वह जा सकेगा नहीं और निर्धारित काम पूरा कर पायेगा नहीं। भावनातंत्र बराबर काम न करे, तो विचार और निर्णयतंत्र की सारी व्यवस्था भी बिगड़कर ही रहती है।

अर्जुन जैसे योद्धा के मुँह से भी निराशा के शब्द निकलते हैं, "मैं नहीं लड़ूँगा।" हृदय के सहयोग बिना गांडीव जैसा धनुष भी भूमि पर निकम्मा पड़ा रहेगा। भावनाओं के सहयोग बिना, मनुष्य की तमाम शक्तियाँ व्यर्थ हो जायेंगी, व्यक्तित्व-निर्माण का कार्य अशक्त हो जायगा।

भावनाएँ हों और प्रबल हों, यह अच्छा है। घोड़ा पानीदार होगा, तभी दौड़ने-कूदने में आगे रहेगा। भावनाएं तीव्र होंगी, तभी जीवन-पथ पर दौड़ने और विघ्नों की बाढ़ लाँघने में वे सहायक होंगी। भावनाशून्य मनुष्य मनुष्य नहीं; या तो राक्षस होगा, अथवा पत्थर की मूर्ति।

अशुभ समाचार मिलने से आँखों में आँसू आ जायँ, अन्याय होने से हृदय में गुस्सा भर जाय, परीक्षा समीप आ जने से मन पर

चिन्ता का बोझ सवार हो जाय, इसमें कुछ हर्ज नहीं। यह तो मनुष्य होने का अहसास-भर है। लेकिन देखना यह है कि चिन्ता के वश होकर क्या मैं अध्ययन छोड़ देता हूँ या चिन्ता को गंभीरता और ज़िम्मेदारी के भाव में परिवर्तित कर मैं अधिक सावधानी के साथ पढ़ने लगता हूँ ? हृदय में क्रोध उत्पन्न होने पर उसके बहाव में विवेक-हीन होकर मैं धक्का–मुक्की करने लगता हूँ या क्रोध के आवेश का, अन्याय का न्याय-पूर्वक सामना करने में उपयोग करता हूँ ? प्रपात के रूप में पड़ते हुए नदी के पानी को कगार की शिलाओं के साथ टकराने देकर झाग और भाप में परिणत होने देते हैं, अथवा बाँध-नहर आदि बाँधकर हम बिजली का उत्पादन करते हैं और खेती को उसका पूरा लाभ पहुँचाते हैं? सारा सवाल भावना पर नियन्त्रण का है। उसके सुलझाने के लिए हृदय के इंजीनियर बनकर भावना-तंत्र पर हमें असाधारण बाँध बाँधना सीखना पड़ेगा।

भय और चिन्ता अंधी वृत्तियाँ हैं।'भूत'की बात अमावस के अँधेरे में ही निभ सकती है। दिन-दहाड़े मैदान में फिरने निकले तो उसकी पोल खुल जाती है। अतः चिन्ता-निवारण के लिए जिस कारण वह हो, उस पर बुद्धि का प्रकाश डालना चाहिए। जिसका भय सताता है, वह ऐसी है क्या चीज़, यह देखना चाहिए।

'चीते'के साथ संघर्ष करने वाले एक बहादुर ग्वाले को अस्पताल में'इंजेक्शन'लगाये जाने का निश्चय होने पर ज़ोर-ज़ोर से रोते हुए मैंने देखा है।'युद्ध'के मोरचे पर जीवन की तनिक भी परवा न करने वाले सैनिकों को, सामान्य'शल्य-क्रिया'से बचने के लिए अस्पताल में से चुपके से भाग जाने की घटनाएँ मैंने सुनी हैं। 'चीते के नाखूनों'की अपेक्षा डॉक्टर की'सुई'क्या अधिक भयंकर होती है ?'तोप'के प्रहार की अपेक्षा 'शीशी सूँघना' क्या ज्यादा

बहादुरी का काम है ? शांति से विचार करने पर चिन्ता और भय का भूत बहुत-बार आपसे-आप भाग जायगा।

बहुत बार ; परन्तु हमेशा नहीं।

किसी समय—जिसका परिणाम पूर्ण रूप से हमारे हाथ में न हो, ऐसी अनिश्चित घटना निकट भविष्य में होने वाली दीखती हो, तब विचार करने पर भी मन को सान्त्वना न मिल सकेगी। परिणाम अनिश्चित होने से आशा और निराशा के बीच मन झूले खायगा—पहले धीरे-से, परंतु फिर झूले पर झूलते हुए जैसे वेग में वृद्धि होती है वैसे-वैसे मन भावी घटना के तटस्थ निरीक्षण में सर्वथा असमर्थ हो जायगा।

झूला ज़रा धीमा करो।

मन को समझाओ कि यह घटना अमुक अंश में अनिश्चित ज़रूर है : परीक्षा की खासी अच्छी तरह तैयारी की है, परन्तु परिणाम क्या आयेगा, यह कहा नहीं जा सकता, तो भी अभी से उसकी चिन्ता करने से नंबर कुछ अधिक आ जाने वाले नहीं। अभी से चिन्ता करने से कल्पित दु:ख से दुखी होने के सिवा कोई लाभ नहीं होगा।

'अनुत्तीर्ण होंगे, तो उसका शोक तब करेंगे।'

मनुष्य जीवित हो, तो उसकी चिता क्या कभी जलाई जाती है?

और फिर, वास्तविक दु:ख की अपेक्षा कल्पित दु:ख बड़ा होता है और देर तक चलता है। परीक्षा तो तीन घंटों में समाप्त हो जायगी, तो उसकी चिन्ता आठ महीने चलने देंगे?

''जेल की दीवारें ऊँची हैं।'' एक दु:खी लेखक लिखता है, ''परन्तु उनकी ऊँचाई की अपेक्षा परछाईं अधिक लम्बी है।''

भावना का संचार हो, और मन के कोने-कोने में वह फैल जाय, शरीर की नस-नस में उसके अमृत या विष का प्रभाव पहुँच

जाय, तब उसे मनोभाव कहते हैं। वह अनुकूल हो, तो मानो पवन से हाँकी जाती नाव! पाल फैलाओ, बस इतनी ही देर! परन्तु अगर मनोभाव बिगड़े, तो वह मनुष्य को घोर निराशा में पटक देता है। ऐसा हो तब क्या करें? सारी दुनिया से रुष्ट होकर घर के एक कोने में बैठ जायँ?

नहीं, मनोभाव का व्याकरण भी होता है। अगर उसे सीख लोगे, तो सभी भावनाओं के बीच तुम्हारे जीवन की पंक्तियाँ सीधी लिखी जा सकेंगी।

प्रथम तो याद रखो कि अमावस के बाद पूर्णिमा आयगी ही। भाटे के बाद ज्वार ज़रूर चढ़ेगा। रात्रि के पश्चात् प्रभात फिर उदय होगा। यही प्रकृति का चक्र है, जीवन का यह अपरिहार्य नियम है।

निराशा का अंधकार हो, तब याद करो कि आशा का सूर्य उदित होगा ही। और उत्साह खूब उमड़ता हो, तब याद रखो कि उदासीनता की छाया भी फिर छायेगी। तुम्हारे भावों का तांडव-नृत्य, इन विचारों से कुछ शांत हो सकेगा।

फिर, मन की स्थिति बिगड़ी तो भले बिगड़ी, परन्तु बाहर इसकी ख़बर पड़ने न दो। दिल में चाहे जो भावनाएँ हों, परन्तु हाथ-पैर निर्धारित नियमों के अनुसार चलाओ। युद्ध-क्षेत्र में, जवान के हृदय में चाहे अनेक भाव उठें, तो भी वह बंदूक चलाता ही जाता है। परीक्षा-भवन में विद्यार्थी के मन में शंका-कुशंकाएँ उठें, तो भी वह क़लम चलाता ही जाता है। चलने लगे, तो चलने की उमंग स्फुरित होगी।

अंत में हिम्मत हो तो विकृत भावनाओं का हमला होने पर, आगे बढ़कर उनका मुकाबला करो। "आज दो घंटे पढ़ना निश्चित किया था। फिर मनोभाव बिगड़ने पर आज का पढ़ने का

कार्यक्रम, 'अनिवार्य परिस्थितियों के कारण' स्थगित करने का मन हो गया।'' ऐसी भावना होने पर यों सोचो : ''दो घंटे पढ़ना था, तो दो घंटे तो पढ़ूंगा ही, क्योंकि जो अंधकार में रास्ता बदले और जो अशांति में निर्णय बदले वह मुसाफ़िर का धर्म भूलता है; परंतु पढ़ना स्थगित रखने की बात मन में आई, इसलिए अब दो घंटे से अधिक तीसरे घंटे भी न पढ़ूँ, तो मैं मैं नहीं।'' और फिर भावनाएँ ठीक-ठिकाने आने लग जायँगी।

युद्ध का मंत्र है : बचाव की अपेक्षा आक्रमण अधिक अच्छा।

७

०

जीवन-ध्येय

''व्यक्ति की सुषुप्त शक्ति को जगाने के लिए आदर्श का तेज चाहिए।''

मनुष्य अपनी शक्ति का पूरा उपयोग नहीं करता, यह अनुभव-सिद्ध बात है, और यह भी तथ्य है कि कोई भी मनुष्य जितना समझता है, उससे कहीं अधिक शक्ति उसमें होती है।

मनुष्य के अन्दर शक्ति का अक्षय भंडार है।

लेकिन अपने से पूरा काम लेना बहुतों को आता ही नहीं।

रेगिस्तान के उदर में पानी का भंडार भरा पड़ा है, लेकिन ज़मीन में नल डालकर पानी को सतह पर न लाया जाय, तो रेगिस्तान, रेगिस्तान ही रहेगा।

''मेहनत की होती, तो अधिक नंबर आते।''

''तैयारी की होती, तो प्रतियोगिता में इनाम मिलता।''

''जवानी में कुछ ध्यान दिया होता, तो बड़ी उम्र में नाम कमाता।''

निस्संदेह, नाम कमाने की तथा नम्बर ज़्यादा लाने की शक्ति तो थी ही, परन्तु शक्ति का उपयोग करने की सूझबूझ नहीं थी, और पानी तो रेगिस्तान के उदर में ही पड़ा रहा।

उस पानी को बाहर लाया कैसे जाय? थोड़ा विचार करें!

विद्यार्थी मात्र का अनुभव : महीनों तक पढ़ा नहीं गया। फिर, परीक्षा पास आई तो दिन-रात पुस्तकों में आँखें गड़ी रहने लगीं। परीक्षा पास आई ; पढ़ने का कारण मिला ; काम करने का हेतु मन में आया। ध्येय मिल गया, और ध्येय मिलते ही, मन का नाज़ुक यंत्र काम करने लग गया।

मनुष्य को कार्य में प्रवृत्त करनेवाला बल अपने ध्येय से प्राप्त होता है। यह ध्येय जितना दृढ़, श्रेष्ठ और विशाल होता है, उतना ही अधिक काम मनुष्य से करा सकता है।

पढ़ने की शक्ति जितनी मार्च में दिखाई दी, उतनी जून में भी थी ही। परन्तु जून में ध्येय मंद था, जबकि मार्च में यह तीव्र बना।

फिर परीक्षा में पास होना कोई ऊँचा आदर्श नहीं। वह तो सिर्फ़ इतना ही है कि दो महीनों तक प्रोत्साहित करता रहे। सारे वर्ष, जिन्दगी-भर प्रेरणा दे और शक्ति का संचार करे, ऐसा आदर्श दिल और दिमाग़ में बैठ जाय तो समस्त जीवन ही बदल जाय।

एक विद्यार्थी कॉलेज में पढ़ता था। सामान्य विद्यार्थियों में ही उसकी गिनती थी। एक दिन उसकी माँ (उसका पिता तो वर्षों पहले मर चुका था) उसे बुलाकर धीरे-से बात करने लगी, "तू अब छोटा नहीं, बड़ा हो गया है। इसलिए घर की बात तुझे समझनी चाहिए। तेरे पिताजी हमपर कुछ कर्ज़ छोड़कर मरे हैं। यह उनका दोष न था, लेकिन वह कर्ज़ अदा न कर सके। लेनदार तो समझदार आदमी है, इसलिए कोई दिक्कत नहीं, परन्तु बेटा ! तेरे पिताजी की इज्ज़त का सवाल है। यह कर्ज़ा तू चुकायेगा, तभी तू उनका सपूत कहलायेगा।"

विद्यार्थी के मन पर माँ की बात का जादू-सा असर हुआ। उसे प्रेरणा मिली, ध्येय मिला, और उसी दिन से कक्षा में, और आगे

चलकर अपने व्यवसाय में भी, वह सदा अगुआ रहा। पिता का कर्ज़ चुकाते हुए ही, उसका अपना जीवन उन्नति के पथ पर अग्रसर हुआ।

दूसरी एक सच्ची घटना सुनो ! तीन छोटे-छोटे बच्चों की माँ। समृद्ध कुटुंब में लालन-पालन हुआ था, इसलिए घर के काम-काज में कभी हाथ न लगाया। परन्तु पति के मर जाने पर उसने कमर कसी। घर के काम-काज, नौकरी और मज़दूरी तक करने में वह हिचकी नहीं। इस तरह तीनों बालकों को पढ़ाया और उनके विवाह किये। अन्तिम बालक के विवाह के बाद माँ शिथिल हो गई और बोली, "अब मुझसे काम नहीं होता!" मतलब यह कि बालकों की ज़िम्मेदारी जबतक सिर पर थी, जीवन-कार्य बाकी था, ध्येय पूरा करना शेष था, तब तक ही शक्ति रही।

इच्छा-शक्ति मन और शरीर से काम कराती है और जीवन-ध्येय इच्छाशक्ति पैदा करता है। किसी भी कार्य के लिए, साहस के लिए—और विशेषत: तो जीवन के लिए ही प्रेरक-बल मिल जाय तो बस काम पूरा हुआ ही समझो।

व्यक्ति की सुषुप्त शक्ति जगाने के लिए, आदर्श का तेज चाहिए।

जीवन-ध्येय, व्यक्तित्व-निर्माण के लिए रामबाण है।

मनोवैज्ञानिक लिण्डवोस्की लिखता है, "जहाँ ध्येय है वहाँ इच्छाशक्ति होती ही है और ध्येय प्रबल एवं स्थायी हो, तो इच्छा शक्ति भी प्रबल एवं स्थायी होती है। किसी भी कार्य की सफलता का मापदंड, उस काम के मूल में स्थित प्रेरक बल है और मनुष्य के व्यक्तित्व का मापदंड उसका जीवन-ध्येय है। फिर अनेक प्रयोग, उदाहरण और आँकड़े उद्धृत करके वह बताता है कि इच्छाशक्ति का आधार अभ्यास नहीं, बल्कि प्रेरक बल होता है।

इसी प्रकार पढ़ाई में निष्फल होने वाले विद्यार्थियों की बड़े पैमाने पर जाँच-पड़ताल करने के बाद आविष्कारक वटरविक ने उसका मूल कारण विद्यार्थियों के मन में पढ़ाई का कोई स्पष्ट लक्ष्य न होना ही बताया है।

पढ़ने की शक्ति तो है, लेकिन पढ़ना किसलिए? उपाधि, नौकरी, धन प्राप्त करने के लिए? लेकिन ये तो कोई ऊँचे आदर्श नहीं। इसीलिए पढ़ाई का मानदण्ड ऊँचा हो नहीं रहा। एक कक्षा के बाद दूसरी में चढ़ना, स्कूल के बाद कॉलेज में जाना, इस प्रकार भेड़ की तरह जिधर हाँक दिया, उधर चल दिये।

कहाँ जाना है यह ख़बर नहीं, और न पूछने की आकांक्षा ही है। फिर उत्साह कहाँ से स्फुरित हो?

मोहनदास करमचन्द गांधी अफ्रीका जाने से पहले सामान्य आदमी थे, स्कूल[१] में, कॉलेज[२] में और लंदन[३] में उनके भविष्य को कोई आशाप्रद नहीं मान सकता था। फिर वह शरीर से दुर्बल[४], स्वभाव से बहुत शर्मीले[५] और सार्वजनिक सभा में बोलने में संकोचशील[६]। पर इस शर्मीले और संकोचशील आदमी के मन

१. "मैं मुश्किल से ही सामान्य कोटि का विद्यार्थी गिना जाता होऊँगा।" आत्मकथा

२. "जल्दी से पास हो सकूँगा, ऐसा न लगता।" आत्मकथा

३. "मैं लेटिन में अनुत्तीर्ण हुआ।" आत्मकथा

४. "मैं बहुत दुर्बल था।" आत्मकथा

५. "यहाँ तक कि क्रिकेट टीम में सम्मिलित होने के लिए कहने में शर्म आती थी। आत्मकक्षा

६. "दस मित्रों के बीच में खड़े होकर आभार-प्रदर्शन के लिए लिखे गये वाक्यों को भी पढ़ न सका।" 'आत्मकथा' से

में एक अद्‌भुत आदर्श धीरे-धीरे साकार होने लगा—मातृभूमि की आज़ादी का ! और जैसे-जैसे यह आदर्श दृढ़ होता गया, वैसे-वैसे उनकी शक्ति और अधिक बढ़ती गई। शरीर से दुर्बल होते हुए भी मीलों तक उन्होंने कूच किया और अगणित दिनों तक उपवास रखा, संकोच छोड़कर वह वाइसराय और गर्वनर-जनरल से मिले। यही नहीं, बल्कि विशाल मानव-समुदाय के बीच खड़े होकर भाषण किये। इस तरह प्राणों के समान प्रिय अपने आदर्श को मूर्तिमान किया और अपनी मातृभूमि को स्वतन्त्र कराके ही दम लिया।

जीवन-ध्येय से मनोबल, मनोबल से व्यक्तित्व और व्यक्तित्व से जीवन एवं समाज में शुभ परिवर्तन—यह क्रम गांधीजी के जीवन में प्रत्यक्ष देखने को मिलता है। मन में आदर्श प्रकट होने पर जीवन में सहसा कैसा पलटा आता है इतिहास में इसका उज्ज्वल दृष्टान्त गाँधीजी का जीवन है।

सच्चा आदर्श श्रेष्ठ (बढ़िया) और परलक्षी होता है। अपना नाम रौशन करना अथवा बहुत-सा धन एकत्र करना कोई आदर्श नहीं, वह तो स्वार्थ है। स्वजनों का रक्षण और पालन-पोषण इससे कुछ बढ़िया ध्येय अवश्य है ; परन्तु है वह भी संकुचित ही। वस्तुतः तो जिस मात्रा में मनुष्य स्वार्थ छोड़कर दूसरों के लिए जीता है, उसी मात्रा में उसका सच्चा व्यक्तित्व प्रस्फुटित होता है।

लोकसेवा का आदर्श उत्कृष्ट है, उसका यही कारण है। इसलिए यह पवित्र आदर्श अपने जीवन में यथाशक्ति उतारने के लिए हमें सतत प्रयत्न करना चाहिए। दूसरों का दुःख—मन का, देह का अथवा दिल का—दिखाई दे, तो उसे दूर अथवा कम

करने के लिए, हममें एक उमंग उठनी चाहिए और यह शुभ काम डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, मिलमालिक आदि सभी अपने-अपने ढंग से कर सकते हैं। हरएक उसमें से अपने दु:खों को सहन करने और अपनी शक्ति का पूरा उपयोग करने के लिए प्रेरणा एवं उत्साह प्राप्त कर सकता है।

सच्चा आदर्श आदर्श तो होगा ही, नहीं तो वह हमें ऊँचाई पर कैसे ले-जा सकेगा? परन्तु साथ-ही-साथ, वह वास्तविक और व्यावहारिक भी होना चाहिए। कल्पना में और आदर्श में मूलभूत अन्तर है। कल्पना दौड़ाते रहने से मन की शक्ति नष्ट होती है; जबकि आदर्श के सेवन से अद्भुत शक्ति का संचार होता है।

जीवन-ध्येय तो समस्त जीवन के लिए है, उसकी प्राप्ति जीवन-पर्यन्त की बात है ; परन्तु उसका असर आज से ही नित्य-प्रति के जीवन पर दिखाई देना चाहिए। आगे चलकर देश के वैज्ञानिक विकास में योगदान देना है, तो आज गणित का अपना पाठ बराबर समझो; भविष्य में देश के कल्याणार्थ राजनीति में भाग लेना है तो आज निकम्मे उपन्यासों को पढ़ने के बदले देश-विदेश के प्रश्नों का अभ्यास करो ; आगे चलकर लोगों की सेवा करनी है, तो आज ही स्नेह और सरलता से अपने सहपाठियों की मदद करना सीखो तथा ग़रीबों के साथ सम्पर्क साधने का अनुभव लो।

तुम्हारा जीवन-ध्येय तुम्हारी यात्रा की दिशा निश्चित करेगा। इस दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा और शक्ति देगा;

दुःख में सहनशीलता और सुख में विवेक सुझायेगा; जीवन में अचिन्तित सफलता दिलायेगा।

तुम्हारा जीवन-ध्येय तुम्हें क्रिया में प्रेरित करनेवाला बल है, तुम्हारे चरित्र की नींव और तुम्हारे व्यक्तित्व का मापदण्ड है।

८

०

आत्म-स्वीकार

"वास्तविकता का स्वीकार—अपने हाथ में जो-जो न हो, उस सबका सहर्ष स्वीकार – जीवन-कला का एक मंगल सूत्र है।"

"विचित्र दिखाव, विचित्र वाणी,
विचित्र पोशाक, विचित्र प्राणी।"

दर्पण के सामने तटस्थ भाव से निहारते हुए कवि दलपतराम द्वारा चित्रित, मानवमात्र का यह चित्र यथार्थ लगता है और जब मन असमंजस में पड़ता है, तब बाहरी प्रदर्शन की अपेक्षा अंदर चलता हुआ शंभुमेला अधिक विचित्र होता है, इसकी स्वीकृति स्वयं होती है।

सचमुच, मनुष्य एक विचित्र प्राणी है।

वह देव और दैत्य का, अधम वासनाओं और उत्कृष्ट भावनाओं का, मिट्टी और सोने का संकर-मिश्रण है।

तो भी कवि सृजनहार से कोई फ़रियाद करता नहीं, बल्कि नम्र भाव से यों कहता है :

"विचित्र यह नाटक विश्वनाम,
पैदा किया—उस प्रभु को प्रणाम।"

परिस्थिति को स्वीकार करने में केवल भक्तिभाव या काव्यरस की बात नहीं, मनोविज्ञान और व्यक्तित्व-निर्माण का एक अनमोल सिद्धान्त भी समाया हुआ है। जो मन और देह मुझे मिले हैं, उन्हीं से मुझे जीवन-भर काम करना है; इनके साथ अच्छा सम्बन्ध तो रखना ही चाहिए न! घर में बराबर कलह रहे, तो जीवन कैसे जिया जाय! यह मन तथा यह शरीर आदर्श तो नहीं होंगे। शरीर लंबा अथवा ठिगना हो सकता है, चेहरा सुन्दर या बेडौल हो सकता है, बुद्धि तेज़ या मंद हो सकती है। माल तो मुझे ऐसा ही मिला है; और दवा, कसरत तथा अभ्यास आदि से उसमें ज़्यादा फेर-बदल होने वाला नहीं। अपने इस स्वरूप के साथ ही, मुझे सबसे पहले और पूरे दिल से समाधान कर लेना चाहिए।

इस समाधान या समझौते का नाम ही आत्मस्वीकार है।

जन्म से अंधा एक लेखक लिखता है, "मैं कोई पाँच वर्ष का था, तभी मुझे लगने लगा कि दूसरे बालकों से मैं कुछ अलग किस्म का हूँ—मेरी आँखें नहीं। प्रकाश शब्द का जो अर्थ वे करते थे, वह मेरे अर्थ से कुछ भिन्न था। रंगों के नाम रखने के मूल में कोई कारण होना चाहिए, जो मैं समझता न था। लेकिन प्रारम्भ में इसका बहुत दुःख मुझे न रहता था। भिन्न हो तो हुआ करे, हम भी सही हैं। परन्तु आगे चलकर जब अपनी करुण अवस्था का पूरा भान मुझे हुआ, तब मेरा दिल पुकार उठा, 'अब जीवन कैसे जिया जायेगा?' फिर समाधान हुआ। तुरंत तो नहीं, परंतु बहुतेरे आत्म-मंथन और प्रार्थनाओं के फलस्वरूप। अंत में मैंने सच्चे दिल से अपने अंधेपन को स्वीकार कर लिया। तभी मेरा सच्चा जीवन आरंभ हुआ और आज समाज में मेरा स्थान है।"

आत्मज्ञान के बाद, आत्म-स्वीकार व्यक्तित्व-गठन का दूसरा सोपान है। अपने स्वरूप को यथायोग्य ढंग से पहचान लेने

के बाद प्रेम और प्रसन्नता से उसका अभिनन्दन करना, यही आत्म-स्वीकार का अर्थ है। यह आत्म-स्वीकार कोई लाचारी, आलस्य, प्रारब्धवाद अथवा "जो है सो ठीक" ऐसा खोटा आत्मसंतोष नहीं। परिस्थिति को स्वीकार करने के बाद ही उसे सुधारने के लिए इस मैदान में जूझेंगे। अपने गुण-दोष जानने के बाद ही गुणों की वृद्धि और दोषों को कम करने की ओर हम ध्यान देंगे। हमारे हाथ में जो कुछ है—और बहुत-कुछ तो है ही—उसपर आत्मबल के प्रयोग करेंगे।

परन्तु जो हमारे हाथ की बात नहीं, उसपर अनधिकार चेष्टा न करने की मर्यादा हम हर्ष से स्वीकार करेंगे।

जो बैल हल में जुते हैं, उन्हींसे तो खेती करनी है!

मन-देह की, जैसी है वैसी, जोड़ी को हाँक-हाँककर ही जीवन-क्यारी को सुधारना है और अपने बैल के लिए—भले ही उसमें थोड़ी खराबी क्यों न हो—किसान को कितनी ममता होती है!

आज को सहर्ष स्वीकार कर कल को सुधारने की बात है। फ़िलहाल तुम्हें महीने के तीन सौ रुपये वेतन में मिलते हैं ? ठीक, तीन सौ के पाँच सौ और पाँच सौ के हज़ार हों, इसका यत्न ज़रूर करते रहो। परंतु जबतक तीन सौ ही मिलें, तबतक तीन सौ की मर्यादा में ही निर्वाह करो। झूठा ढोंग करके अथवा क़र्ज़ा करके हज़ार रुपये कमानेवालों की जीवन-पद्धति में खप जाने के लिए बेकार कोशिश न करो।

विधाता ने जो प्रसाद तुम्हारी अंजलि में रखा है, उसे हार्दिक कृतज्ञता से स्वीकार करना चाहिए। सृष्टि की क़तार में तुम्हारे आगे-पीछे खड़े हुए दूसरों के हाथ में विधाता ने कितना दिया है, उस ओर ईर्ष्या की दृष्टि डाले बिना। हरएक को अपना-अपना भाग मिला है, और उसमें दुःख की मात्रा कम नहीं। एक गुलाब के

साथ सौ काँटे रहते हैं। सोने के एक कण के साथ रेत के हज़ार कण मिले रहते हैं। जैसे विजय को अच्छे ढंग से स्वीकारने की कला होती है, वैसे ही हार को हँसते मुँह स्वीकारने की भी एक कला होती है। यह कला हस्तगत न हो, तो खेल का आनन्द चिन्ता और दुःख में पलट सकता है।

"मैं इस चुनाव में खड़ा हूँ, जीवन में प्रथम और अंतिम बार! जीतूँगा तो अपने कर्त्तव्य का पालन करूँगा और हार गया तो इस धंधे को नमस्कार कर लूँगा।" इस प्रकार चुनाव में मत लेने के लिए आये हुए उम्मीदवार ने मुझसे कहा। मेरे मन में आया—जो हार को सहर्ष स्वीकार नहीं कर सकता, वह चुनाव में क्यों खड़ा हो? परंतु तुरंत इसकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ी—एक बार ठोकर लगने पर जो आगे चलने की हिम्मत खो बैठे, वह जीवन-पथ पर पैर क्यों रखे?

एक सज्जन के साथ एक दिन मेरा परिचय हुआ। परिचय करानेवाले मित्र ने बाद में मुझसे कहा, "यह इस प्रांत का श्रेष्ठ साहित्यकार है।" मैंने आश्चर्य प्रकट किया, "इसकी कोई कृति मेरे देखने में आई हो ऐसा याद नहीं।" तब स्पष्टता की गई, "यह लेखक है, परन्तु लिखता नहीं। वर्षों पहले इसने थोड़े लेख और कहानियाँ लिखी थीं। उत्तम थीं। लेकिन एक विवेकहीन आलोचक ने इसकी एक कहानी की विषम आलोचना की। वह इससे सहन न हुई और तभी से इसका यह व्रत चलता है।"

लिखते नहीं ऐसे लेखक, बोलते नहीं ऐसा वक्ता, खेलते नहीं ऐसे खिलाड़ी और शोधकार्य करते नहीं ऐसे अनुसंधानकर्ताओं से दुनिया भरी हुई है। एक आघात वे सह नहीं सके। एक बार जीवन-ज्वाला में जल जाने से, वे चिनगारी से भी भड़कने लगे।

रोग तथा दुर्घटना भी ऐसी ही वस्तुएँ हैं। सामान्य स्वास्थ्य के

नियम-पालन तथा सावधानी के सिवा हमारे पास उनसे बचने का कोई उपाय नहीं। रोग-जंतु कब किसपर हमला करेंगे, इसका कोई मुहूर्त नहीं होता और दुर्घटना तो होती ही अकस्मात् है।

नये पाठ्यक्रम के शुरू होने के पहले दिन एक विद्यार्थी उत्साहपूर्वक कॉलेज जा रहा था। रास्ते में उसकी साइकिल एक मोटरकार के साथ टकराई। बड़ी चोट पहुँची; चीरफाड़, दवाइयाँ और तीन महीने का सम्पूर्ण आराम—ऐसा डॉक्टर का आदेश हुआ। अब इस उत्साही युवक की मानसिक स्थिति की कल्पना तुम कर सकते हो? हड्डियों की सार-सम्हाल तो डॉक्टर करेगा, परंतु मन की सार-सम्हाल कौन करेगा? मैं उससे मिलने गया, तब उसके हाथ में पाठ्य-पुस्तक थी—डॉक्टर की मनाही थी तो भी। मैंने धीरे-से पुस्तक उसके हाथ से ले ली और समझाया, "दुर्घटना तो हो ही गई। अब उस मोटर मालिक को अथवा अपने भाग्य को कोसना व्यर्थ है। तीन महीने व्यर्थ जायेंगे, अथवा शायद सारा साल बिगड़ेगा; पर इसके लिए रोने-धोने से कोई लाभ नहीं। जो हो गया, वह न हुए, जैसा तो होगा नहीं। अब रोने-धोने, व्याकुल होने अथवा भीतर-भीतर जलते रहने से कुछ फ़ायदा नहीं होगा, नुकसान ही होगा। इसलिए हँसते हुए इस स्थिति को स्वीकार करो। परिस्थिति तुम्हारे अनुकूल न हो, तो तुम उसके अनुकूल हो जाओ, डॉक्टर जैसा कहे, वैसा करो। पाठ्य-पुस्तक दूर रखो। नया अनुभव प्राप्त करो। इसमें भी प्रभु के हाथ को परखने का प्रयत्न करो। मन प्रफुल्लित रखो। इस प्रकार जल्दी ठीक हो सकोगे और हो सकता है कि इस वर्ष ही परीक्षा में निकल जाओ।" और हुआ भी ऐसा ही।

वास्तविकता का स्वीकार—मन-देह का, कुटुम्ब-समाज का, और अपने हाथ में जो-जो न हो उस सबका स्वीकार—यह

जीवन-कला का एक मंगलसूत्र है।

अपने इन इस पैरों की
मदद से ही मुझे चलना है।
अपनी इन आँखों की मदद
से ही मुझे रास्ता खोजना है।
अपनी इस बुद्धि की मदद से ही
मुझे दिशा निश्चित करनी है।
इसका 'साभार स्वीकार' ही
सफल यात्रा की पहली शर्त है।

९

०

आत्म-विश्वास

"सफलता के मृदु स्पर्श से
अविश्वास का घाव भर जाता है।"

एक शिक्षा-संस्था में विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य की जाँच करते हुए आश्चर्यजनक परिणाम सामने आया। दो हज़ार विद्यार्थियों में से १,६०० विद्यार्थियों में कोई-न-कोई हीनता-ग्रंथि पाई गई। १०० शिक्षित युवकों में से ८० अपने को हीन समझ बैठें, अपनी शक्ति जितनी है उसे उससे भी कम समझकर दुःखी हों और भविष्य के प्रति अविश्वास की भावना से जीवन का उत्साह खो बैठें, यह अच्छी बात नहीं। फिर से उत्साह प्राप्त करने के लिए, विनष्ट होती हुई शक्ति को रोकने के लिए, तथा इन युवकों और समाज का वास्तविक कल्याण सिद्ध करने के लिए मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये हुए हीनता-निदान पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

हीनता-ग्रंथि–युवकों के सम्पर्क में रहनेवालों का तो यह रोज़ का अनुभव है। एक पत्र से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करता हूँ–"मुझे अपने पर विश्वास हो, ऐसा लगता नहीं। किसी भी वस्तु पर विश्वास नहीं, किसी भी बात पर विश्वास के साथ बोल नहीं सकता। जो कोई भी लक्ष्य निश्चित करता हूँ (उदाहरणार्थ, 'यह

मेरा अंतिम वर्ष है, अतः पहले दर्जे में आना है') तो मेरे मन में शंका-आशंकाएँ उठ खड़ी होती हैं, मुझसे यह हो सकेगा या नहीं, ऐसे प्रश्नों की झड़ी मेरे दिमाग़ को बेचैन बना देती है। मुझे हमेशा अपने भविष्य के बारे में आशंका रहा करती है, क्या होगा? मैं अपने भविष्य को शंका की नज़र से देखता हूँ। किसीके भी साथ आत्म-विश्वास से बात नहीं कर सकता। कोई सच्ची बात जानता भी हूँ तो उसे कहते हुए मन में भय लगता है। इसलिए वास्तव में मुझे बहुत व्यग्रता रहती है। मुझमें आत्म-विश्वास न आ सका, तो मेरा जीवन नष्ट हो जायगा, यह एक ही बात ऐसी है जिसमें मुझे कोई शंका नहीं।"

सचमुच आत्म-विश्वास के बिना मुनष्य पंगु हो जाता है।

पंख होते हुए भी घोंसले में ही बैठे रहनेवाले पक्षी को भला पक्षी कहा जा सकता है?

पंखड़ियों के कोमल सौंदर्य को पवन में खुला रहने के डर से बंद रहनेवाली कली कभी फूल बन सकेगी ?

बाहर की दुनिया के अविश्वास से कोये में बंद रहना पसंद करने वाला कीड़ा क्या पतंगा बन सकेगा?

कोये को तोड़ने, अपरिचित वातावरण में पनपने, घोंसले को छोड़ने के लिए हिम्मत चाहिए।

जीवन में जीवट के साथ कूदने के लिए आत्मविश्वास चाहिए।

कली का खिलना श्रद्धा का चमत्कार है। पक्षी का अपने बच्चे को हवा में छोड़ देना बहादुरी-भरा पराक्रम है।

जवान आदमी का जीवन का आह्वान सुनकर दुनिया के मैदान में कूद पड़ना आत्मविश्वास की साधना है।

जीवन-साधना के प्रारम्भ में ही एक बडी बाधा उपस्थित

होती है। उसे यदि हम लाँघ सकें तो काम खूब आगे बढ़ सके। यह बाधा है, विश्वास का अभाव। अपरिचित समुद्र को पार करके किसी किनारे पहुँचूँगा ही, ऐसा अटल विश्वास ही कोलंबस की सफलता की पहली और सबसे बड़ी पूँजी थी। दूसरे भी बहुत-से मनुष्य अटलांटिक पार कर अमेरिका पहुँच सकते थे, परन्तु उनके अन्दर विश्वास न था। उनमें ऐसी उज्ज्वल श्रद्धा न थी कि किनारा है। यही कोलंबस और उनमें भेद था।" (टैगोर)

आत्मविश्वास चाहिए और वह सच्चा आत्मविश्वास होना चाहिए। दूसरों के हाथ में दी जानेवाली चीज़ खोटी भी हो सकती है, दूसरों के कान में डाली जानेवाली बात झूठी भी हो सकती है, परंतु अपनी आत्मा को जताया जानेवाला निर्णय, अपने सामने प्रस्तुत किया जानेवाला अपनी मानसिक तैयारी का विवरण, सच्चा ही होना चाहिए। मनुष्य दूसरों के सामने तो झूठे विश्वास का दिखावा कर सकता है, परन्तु अपने सामने नहीं। बनावटी आत्मविश्वास देर तक साथ देता ही नहीं। सच्चा हो, तभी वह दुनिया के बाज़ार में घुमाया जा सकता है।

अनुभव की बात है कि जो मनुष्य डींग हाँकते हैं, विश्वविजय का ढिंढोरा पीटते हैं, वे अन्दर से भीरु होते हैं और अपनी भीरुता छिपाने के लिए बाहर से झूठा दिखावा करते हैं। 'मुझे पक्का विश्वास है कि मैं पास होऊँगा' ऐसा जो विद्यार्थी बार-बार और बलपूर्वक कहता है, उसका अर्थ यह समझना चहिए कि उसे अनुत्तीर्ण होने का पूरा भय है और इसीलिए उल्टा बोला करता है।

'निश्चय', 'अवश्य', 'ज़रूर' इन शब्दों का अर्थ शब्द-कोष में एक होता है और जीवन में दूसरा।

आत्म-विश्वास उत्पन्न करने के लिए, सफलता मिल सके ऐसे काम पहले शुरू करो। भले ही वह कोई सरल-साधारण ही

काम हो, परन्तु सिद्धि अनुभव होने पर हृदय में आनन्द स्फुटित होगा, और यह आनन्द तुम्हें आपने-आप आगे की तरफ खींचकर ले जायगा।

सफलता का स्वाद जीभ को लग जाता है और उससे उत्साहपूर्वक जीवन जीने की भूख खुलती है।

इसके विपरीत, अपनी शक्ति से बाहर का काम शुरू करोगे तो निष्फलता मिलेगी। उससे तुम्हारे अहंभाव को चोट पहुँचेगी, तुम्हारे ही दरबार में तुम्हारा मान-भंग होगा। तुम्हारे दिल पर गहरा आघात पहुँचेगा और उसके घाव ज़िन्दगी-भर नहीं भरेंगे।

बहुत-सी हीनता-ग्रन्थियों का कारण यही होता है'—निष्फलता के अनुभव से तरुण हृदय पर पड़ा हुआ आघात।

आत्मविश्वास प्राप्त करने का रामबाण उपाय इससे उल्टा है—बचपन से ही छोटे-बड़े काम उत्तरोत्तर सिद्ध करने का आत्मसंतोष।

एक तेजस्वी विद्यार्थी कॉलेज में गणित की मेरी कक्षा में पहले से ही पिछड़ गया था। पहली परीक्षा में जैसे-तैसे पास हुआ। देर तक चर्चा करने के बाद वास्तविक कारण समझ पड़ा। स्कूल में एक बार दो महीने की बीमारी के बाद तैयारी न होने पर भी उसे गणित की परीक्षा में बिठाया गया था। होशियार है, इसलिए गणित में कोई बाधा न आयगी, यह उसके बुजुर्गों का गलत खयाल था। परीक्षा ख़राब होने का उसका प्रथम अनुभव था। इससे उसके दिल में चोट लगी, मन में गाँठ बँध गई कि गणित अनुकूल नहीं हो सकेगा। रस चला गया। उसके दूसरे विषय अच्छे थे, परन्तु गणित में हमेशा कच्चापन रहता। अच्छा इतना ही हुआ कि रोग एक विषय से दूसरे विषय में फैला नहीं। रोग का निदान हो जाने पर इलाज आसान हो गया। ऐसी परीक्षाओं में मैंने उसे बिठाया,

जिनमें वह सफल हो सके। सफलता वस्तुतः रामबाण औषध है। सफलता मिलने से उसकी सुषुप्त शक्ति जाग उठी, विश्वास जमा, रस आने लगा और गणित ही प्रिय विषय बन गया। सफलता के मृदु स्पर्श से अविश्वास का घाव भरता है। तैरना सीखना हो, तो उथले पानी से प्रारंभ करो। प्रारंभ में ही समुद्र की उछलती लहरों में डुबकी लगाओगे तो ज़िन्दा रह गए तो भी ऐसा भय मन में बैठ जायगा कि ज़िन्दगीभर फिर तैरने का नाम लेना मुश्किल होगा। खारे पानी का स्वाद कभी भूलता नहीं।

तुममें असफलता या अविश्वास की ऐसी गाँठ बँधी हो, तो उसका मूल खोजने के लिए अपने भूतकाल की जाँच करो। अपनी शक्तियों और अपनी मर्यादाओं का ठीक-ठीक हिसाब समझो। अपनी शक्ति के अनुसार नई ज़िम्मेदारियाँ स्वीकार करो और ठीक तैयारी करके उन्हें पूरा करना सीखो। क्षोभ, चिंता, भय की परवा किये बिना ही, निश्चित किया हुआ काम निश्चय के साथ प्रारंभ करो और उसे पूर्ण करो। समाज में तुम्हारा स्थान है, ऐसा विश्वास अपने हृदय में पैदा होने दो। दूसरों पर विश्वास रखो और दूसरे तुमपर विश्वास रख सकें, इसके लिए स्वयं अपने-आप पर विश्वास करना सीखो।

व्यापारी ही अपने माल को घटिया मानेगा, तो उसे कौन खरीदेगा?

और अंतिम बात ! आत्मविश्वास की अडिग नींव भगवान् पर विश्वास ही है। परिस्थिति तुम्हारे क़ाबू में न हो, सफलता हाथ की बात न हो, परिणाम का आधार तुम्हारी अपेक्षा दूसरों पर अधिक हो, तब क्या करना चाहिए ? ऐसे प्रसंगों में आत्मश्रद्धा सच्चे दिल से कैसे रखी जाय ? परिस्थिति भले तुम्हारे हाथ में न हो, परन्तु वह उसके हाथ में है जो तुम्हें भली-भाँति पहचानता है (क्योंकि

उसने तुम्हारा सृजन किया है), जो तुमसे प्रेम करता है और तुम्हारा कल्याण ही चाहता है।

बीज को किसान पर विश्वास है, इसीलिए धरती की गोद में कई दिनों तक सुख से सोता रहता है।

बालक को माता पर श्रद्धा है, इसीलिए उसकी गोद में सिर रखकर निश्चिंत भाव से लेट जाता है।

मनुष्य यदि सृष्टिकर्ता पर प्रेम-भरा विश्वास विकसित करे, तो उसके जीवन में सरलता, हिम्मत और शक्ति आ जाय। इस प्रकार किसी भी प्रसंग में, कठिनाई के काम में भी, सच्ची श्रद्धा रखी जा सकती है।

> व्यक्तित्व-निर्माण के काम में आत्मविश्वास चूना-सीमेंट का काम करता है। ईंट और ईंट के बीच, पत्थर और पत्थर के बीच, सीमेंट चिपक जाय तो दीवार मजबूत बने और मंजिल-पर-मंज़िल खड़ी कर गगनचुंबी इमारत बनाई जा सकती है। इसी प्रकार मन और हृदय, बुद्धि और भावनाओं तथा संस्कारों और आदर्शों के बीच आत्मविश्वास का वज्रलेप लगाओगे, तभी सदृढ़ व्यक्तित्व का निर्माण कर सकोगे।

१०

०

वर्तमान का कर्तव्य

"दूर पहुँचने पर वहाँ का रास्ता देख लेंगे। यहीं से उसे देखने का मिथ्या प्रयत्न करने से यहां का रास्ता तो देखेंगे ही नहीं, वहाँ का रास्ता देखने को शायद जियेंगे भी नहीं।"

अच्छा आकर्षक व्यक्तित्व तो सबको चाहिए; परंतु उसकी कीमत चुकाने के लिए कोई तैयार नहीं।

पास तो प्रत्येक विद्यार्थी को होना है, परंतु पुस्तकों की उपासना के लिए प्रत्येक विद्यार्थी में आवश्यक श्रद्धा-भक्ति नहीं है।

खेलकूद की प्रतियोगिता में भाग लेनेवाले प्रत्येक विद्यार्थी को इनाम जीतना है; परंतु महीनों तक प्रशिक्षण और अभ्यास की तपस्या के लिए पर्याप्त धीरज हरएक में नहीं है।

फिर इनाम दूसरों के हाथ में ही जायगा और परीक्षा-परिणाम की सूची में सबसे ऊपर दूसरे का ही नाम आयगा।

व्यक्तित्व-निर्माण के लिए अगर तुम श्रम उठाने को तैयार नहीं हो, तो यह काम—तुम्हारे जीवन का महान् कार्य—योंही पड़ा रहेगा। दूसरा कोई तुम्हारे लिए यह काम नहीं कर सकता, क्योंकि तुम्हारा ही यह काम है। दूसरा तो रास्ता बता सकता है, लेकिन दौड़ना तो तुम्हें ही है। दूसरा भाँति-भाँति के खाद्य-पदार्थ

परोसेगा, परंतु उन्हें खाने और पचाने का काम तुम्हारा ही है।

मन-बुद्धि-भावनाओं का थोड़ा व्याकरण हमने सीखा। परंतु व्याकरण सिर्फ़ सीखने के लिए हम नहीं सीखते, बोलने-लिखने की शुद्धि के लिए ही सीखते हैं। व्यक्तित्व-निर्माण की बात समझ लेने और उसके नियमों का बोध हो जाने पर उसके प्रयोग हम तुरंत करने लगें, तभी हमें सफलता मिल सकती है।

'तभी' शब्द पर एक लेखक ने एक सम्पूर्ण लेख ही लिख डाला है। उसके अनुसार यह निर्णय सूचित करता है, मन से जो हो, उसे बिना विलंब करने का सूचक है और हाथ में आये हुए आज के दिन—हर क्षण—से पूरा लाभ उठाने का उत्साह बताता है।

वर्तमान में जीते हुए, वर्तमान से काम लेना, यह मानसिक स्वास्थ्य और संतुलित व्यक्तित्व की महत्त्वपूर्ण शर्त है।

भूतकाल तो गया और भविष्य अभी आया नहीं। भूतकाल के स्मरण और भविष्य के स्वप्न के बीच, वास्तविकता का अमूल्य क्षण खड़ा है। दो महासागरों के बीच मानो रामेश्वर का सेतु! इस सेतु पर एक-एक कदम रखकर हमें चलना है।

''दूर मार्ग देखने का लोभ तनिक नहीं,
एक कदम बस है।''

मोटर चलाते समय तुम सामने के रास्ते पर नज़र ठहराकर चलाते हो। सामने क्या है, इस ओर बेखबर होकर अगर दूर देखने लगो, अथवा पीछे देखने के लिए मुँह मोड़ो, तो दुर्घटना की तैयारी हो गई। दूर पहुँचेंगे तब वहाँ का रास्ता देखेंगे। यहीं से उसे देखने का मिथ्या प्रयत्न करेंगे, तो यहाँ का तो देखेंगे नहीं; वहाँ का रास्ता देखने को शायद जियेंगे भी नहीं।

जीवन में यात्रा सचमुच रमणीय है। एक-एक स्थान पर उसके अपने सौन्दर्य का पान करते जाने से उसका संपूर्ण दर्शन पा

लोगे। परंतु अगर एक स्थल पर खड़े रहकर, केवल आ-चुके एवं आनेवाले स्थलों के ध्यान में पड़ जाओगे, तो एक भी स्थल के सौन्दर्य का आनंद न ले सकोगे।

हमारे मन को आँख-मिचौनी का ऐसा खेल खूब पसंद है। छोटे होते हैं, तब हमारा मन, मानो हमारी नज़र बचाकर यों विचार चलाने लगता है– "मैं बड़ा होऊँगा तब; मैं नौकरी करने लगूँगा तब।" और हम कालक्रम से सचमुच बड़े होते भी हैं। तब हमारा मन फिर से बाज़ी बदलकर उलटी चाल पकड़ता है– "मैं छोटा था तब; मैं स्कूल में पढ़ता था तब; मैं तुम्हारे जितना था तब।" अजीब है यह मन ! आगे देखना है या पिछे देखता है, सामने देखने का तो नाम ही नहीं लेता ! इस प्रकार भूतकाल में भविष्य के स्वप्न तथा भविष्य में भूतकाल का स्मरण चला करे तो बीच में क्या रह जायगा ? कल क्या करेंगे; इसकी चिन्ता में अगर आज का दिवस चला जाय, तो आज के दिन के व्यर्थ जाने के पछतावे से, कल का दिन भी क्या बिगड़ नहीं जायगा ?

भविष्य के लिए योजना करनी नहीं चाहिए, ऐसा नहीं। भूतकाल के निरीक्षण में से अनुभव का निचोड़ न निकाला जाय, ऐसा भी नहीं, लेकिन वर्तमान का स्थान भविष्य की कल्पनाएँ ही न ले जायँ, इतनी ही बात है।

एक-एक गाँव चलकर लम्बा रास्ता तय किया जाता है।

पुस्तक के पृष्ठ एक के बाद एक पढ़े जाते हैं।

जीवन की घड़ियाँ, एक के बाद एक, जी जाती हैं।

वर्तमान से भाग छूटने की अस्वस्थ मन की एक सूक्ष्म युक्ति और बहुत-से युवकों के व्यक्तित्व को अवरुद्ध करनेवाला एक व्यापक रोग 'दिवास्वप्न' है।

दिवास्वप्न अर्थात् दिन-दहाड़े, आँखें खुली रहते, जाग्रत मन

द्वारा, जान बूझकर लिया गया स्वप्न :

कल्पनाओं की तरंगें,
माया की सृष्टि,
भ्रमणाओं का जाल।

पलायन-वृत्ति, वास्तविक जीवन में सफलता न मिलने पर—काल्पनिक जीवन में उसे खोजने के लिए मन शेखचिल्ली के प्रदेश में भटकने निकला।

कैसा मीठा तरंगों का यह स्पर्श !
कैसा मादक कल्पित विजय का यह स्वाद !
कैसा आह्लादकारक कृत्रिम वैभव का यह अनुभव !

परंतु बादलों के इस महल को छोड़कर जब धरती की धूल पर फिर से पैर रखने पड़ें, तो मन में कैसा त्रास होता है ! कहाँ मेरी कल्पनाओं का निजी साम्राज्य और कहाँ निष्ठुर वास्तविकता का कारागार ! कहां राजमुकुट और कहाँ भिखारी की चप्पल ! कहाँ तो अपने स्वप्न-साम्राज्य का विहारी मैं और कहाँ मेरी कक्षा में अमुक नाम और नंबर से पहचाना जाता विद्यार्थी !

एक विद्यार्थी के पत्र में से थोड़ी पंक्तियाँ उद्धृत करता हूं—"जब-जब एकांत में अकेला बैठता हूँ, तब भूतकाल में फिसल पड़ता हूँ, अथवा कल्पित भविष्य में उड़ जाता हूँ। आश्चर्य तो यह है कि ऐसा करना मुझे बहुत पसंद है। जबतक मैं उस याद में या उस कल्पना में क्रीड़ा कर रहा होता हूँ, तबतक मुझे स्वर्ग तुच्छ लगता है। परंतु जब मैं यथार्थ जगत् में आता हूँ, तब मुझे जीवन नरक-तुल्य लगता है।"

ऐसी मिथ्या प्रवृत्ति मिथ्या ही है, दिवास्वप्न के व्यसनी भी यह क़बूल करेंगे। इन विचारों से कोई कार्य नहीं बनता। 'कल्पना के ये घोड़े' कोई भार नहीं उठा पाते। मोटरकार खड़ी हो, लेकिन उसका

इंजिन चालू हो, ऐसी यह बात है। पेट्रोल जले परंतु मोटर न चले, ऐसा अगर घंटों तक होता रहे तो इस मोटरकार के—इस मन के—मालिक के बारे में लोग क्या कहेंगे ?

जवानी का क़ीमती समय लूट लेने के बाद दिवास्वप्न अपने ग्राहकों के हृदय में हल्का ज़हर ही छोड़ जाते हैं।

कल्पना में निमग्न रहने के बाद, वास्तविकता कठोर मालूम देती है।

गंधर्वों का संगीत सुनने के बाद मनुष्यों का गीत बेसुरा लगता है।

अमृत का स्वाद लेने के बाद दाल-चावल बेस्वाद लगते हैं।

इस प्रकार वास्तविक जीवन जीने की शक्ति क्षीण हो जाती है। मेंड़ में छेद हो जाने से पानी बाहर निकल जाय और बाद में खेत सींचने का समय आये तब पानी कम पड़ जाय, ऐसे खेत में अच्छी फ़सल नहीं हो सकती।

हमारी शक्ति मर्यादित है, इसलिए उसे एकत्र करके एक के बाद एक काम पर केन्द्रित करने का हमारा प्रयत्न होना चाहिए।

एक समय एक ही काम।

हाथ-पैर जो काम कर रहे हैं, उनके पीछे आँख और जीभ, मन और हृदय भी जुड़ जायँ, तभी हमारा प्रयत्न ठीक कहा जा सकता है।

एक कर्मयोगी नेता कहते हैं, ''मेरे मन की व्यवस्था मेरे इस मेज़ के ख़ानों जैसी है। एक ख़ाना खोलता हूँ और उसका काम करता हूँ। उस काम के पूरे होने पर वह खाना बंद करता हूँ और दूसरा खोलता हूँ। परंतु मेज़ के—अथवा मन के—दो ख़ाने एक-साथ खुले रहने नहीं देता। 'एक समय एक ही काम'।''

वर्तमान धर्म का संदेश भी यही है, और इसमें जीवन-साधना

का एक रहस्य समाया हुआ है। आज के क्षण को हाथ में लेकर, उसपर तन-मन-धन की सम्पूर्ण शक्तियों को केन्द्रित करके उत्साह-पूर्वक कार्य में लगना।

काम के बदले स्वप्न, आचरण के बदले कल्पनाएँ, आज के बदले कल, ऐसे बहानों का आश्रय कभी न लो !

भविष्य सम्हाल लेने के लिए भगवान् के पास दीर्घ दृष्टि और प्रेम है, और भूतकाल को भुला देने के लिए उसके पास क्षमा भी है ; परन्तु जो वर्तमानकाल भगवान् ने हमारे हाथ में रखा है, उसे संभालकर अपना जीवन-कार्य तो हमें ही सिद्ध करना है।

एक-एक क्षण गूंथ-गूंथ कर
ही ज़िन्दगी बुनी जायगी।
एक-एक ईंट रख-रखकर ही
भव्य इमारत चुनी जायगी।
एक-एक सुर अलाप-अलाप कर
ही जीवन-गीत गाया जा सकेगा।

११

o

परिपक्व व्यक्तित्व

"देह और मन के विकास के साथ विवेक, व्यवहार, सहज-वृत्तियों, भावनाओं आदि का सर्वांगीण विकास सिद्ध होने पर ही व्यक्तित्व परिपक्व बनना है।"

तुम्हारी उम्र कितनी है ?

जवाब देने से पहले थोड़ा सोचो, क्योंकि उम्र तो अनेक प्रकार की होती है—शरीर की, मन की, व्यक्तित्व की। जन्मदिन से आज तक कितने वर्ष, महीने, दिन व्यतीत हुए, यह हिसाब शरीर की उम्र बताता है।

मोटर कितने किलोमीटर दौड़ी, इस गणना जैसी यह बात है। दूसरी कोई सूचना इससे नहीं मिलती। एक ही कक्षा में अलग-अलग उम्र के विद्यार्थी बैठते हैं, परन्तु जिसकी उम्र अधिक हो, उसमें बुद्धि भी अधिक हो और गुण भी अधिक हों, ऐसा बहुधा नहीं होता।

इससे सिद्ध होता है कि शरीर की उम्र से मन की उम्र अलग है, और वह अधिक महत्त्व की भी है। मनुष्य के बारे में वह बहुत-सी बातें बता देती है। मोटर कितनी चली, यही नहीं, बल्कि कितनी और चलने की उसमें शक्ति है, यह भी उससे पता चल सकता है।

प्रतिभाशाली और इसी तरह मानसिक अपूर्णतावाले व्यक्तियों की बौद्धिक और शारीरिक उम्र में बड़ा अन्तर होता है।

११ वर्ष के एक किशोर के एक अमरीकी यूनिवर्सिटी में बी० एस-सी० की कक्षा में बिठाये जाने का समाचार छपा था। हमारे यहाँ भी यूनिवर्सिटी से पूर्व के कुछ विद्यार्थियों को निजी तौर पर एम० एस-सी० का गणित पढ़ाने का मेरा अपना अनुभव है।

शरीर कितना बड़ा हुआ और बुद्धि कितनी विकसित हुई, उपर्युक्त उदाहरणों से इन दो तरह की उम्रों का पता लगता है। परन्तु अबतक मनुष्य के रूप में कितना विकसित हुआ, इसका उनमें निर्देश नहीं है। वय:प्राप्त मनुष्यों में भी लड़कपन देखने को मिलता ही है। शरीर और मन के विकास के साथ विवेक और व्यवहार, सहज वृत्तियाँ और भावनाएँ, संयम आदि प्रत्येक दिशा में सर्वांगीण विकास सिद्ध हो, तभी मनुष्य का व्यक्तित्व परिपक्व कहा जा सकता है।

ऐसा प्रगल्भ व्यक्तित्व प्राप्त करना ही व्यक्तित्व-निर्माण का लक्ष्य है। बालक में जो कच्चापन और अनगढ़पन होता है, उसे दूर कर तरुण का हेतुलक्षी उत्साह और समझदार मनुष्य की प्रौढ़ता प्राप्त करने का यह प्रश्न है।

व्यक्तित्व की उम्र ही मनुष्य की वास्तविक उम्र है। जनरल मैक्आर्थर का प्रसिद्ध लेख याद आता है, "जवानी ज़िन्दगी की कोई सीमा नहीं, वह तो एक मानसिक अवस्था है।" दूसरा एक विचारक लिखता है, "प्रौढ़ता का सम्बन्ध सफेद बालों के साथ नहीं, बल्कि हृदय की धड़कन के साथ है।"

शरीर की उम्र जानने के लिए पंचांग को देखना काफ़ी है। मन की उम्र जानने के लिए अनेक परीक्षा–कसौटियाँ हैं। व्यक्तित्व की उम्र आँकने के लिए भी मनोवैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में परीक्षण होते हैं। आगे कुछ सूचनाएँ दी जाती हैं, जिनकी मदद से हरएक अपने व्यक्तित्व की वय का अनुमान कर सकेगा।

बालक को चोट लगी कि तुरन्त चीख़ना-चिल्लाना शुरू हुआ ; पर लड़ाई में सैनिक का पैर गोली से बिंध गया, तो भी मुँह से कोई शब्द न निकला।

बालक को प्यास लगी कि उसने माँ का आँचल खींचा ! पर कैडेट (सैनिक) का गला घंटों सूखता रहने पर भी परेड की समाप्ति तक उसने अपनी प्यास को दबाए रखा।

बालक अपनी प्रत्येक वृत्ति का त्वरित संतोष चाहता है। मनुष्य राह देख सकता है, और इस धीरज में ही उसकी प्रौढ़ता का माप है।

दो विद्यार्थियों की बात लें। दोनों स्कूल में से कॉलेज में आए। नये वातावरण, नये विषय, नयी शिक्षण-पद्धति और शायद शिक्षा के नये माध्यम से दोनों उलझन में पड़ गए। दोनों बुद्धिमान हैं। कॉलेज की पहली परीक्षा निकट आने पर दोनों विचार में पड़ते हैं। एक को खूब चिन्ता है–"इस परीक्षा में यदि मेरा परिणाम अच्छा न आया तो घर के लोग क्या कहेंगे और सारा गाँव क्या कहेगा ? नम्बर कम आए तो उसमें मेरा दोष नहीं ; और कुछ समय बाद अपने-आप आगे निकल जाऊँगा, यह बात तो ये लोग समझेंगे नहीं। मेरी बेइज़्ज़ती होगी।" इस विचार से वह दुःखी होता है।

दूसरे की विचार-सरणि कुछ इस प्रकार चलती है–"इस परीक्षा में मैं अच्छा तो नहीं रहूँगा और घरवाले इसका कारण भी नहीं समझेंगे, यह सच है। परंतु थोड़ा धीरज रखूँगा। जो कुछ कहेंगे, वह सुन लूँगा। धीरे-धीरे अनुकूलता हो जायगी और वर्ष के अंत में, असली परीक्षा के समय, मैं बराबर काम करके बताऊँगा।"

दूसरों के सामने अपनी योग्यता सिद्ध करने की उत्कंठा दोनों में है। परंतु इस सहज-वृत्ति का एक को तत्काल संतोष चाहिए.

जबकि दूसरा संयोगवश राह देख सकता है। ये दो विद्यार्थी चाहे जुड़वाँ भाई ही हों, पिछले विद्यार्थी की उम्र—व्यक्ति के रूप में—पहले की अपेक्षा प्रौढ़ गिनी जा सकती है।

मनोवेग, जैसे बालक के दिल में, वैसे ही अधेड़ वय के पुरूष के दिल में भी होता है। परन्तु इसमें भी अंतर है। छोटा बालक एक क्षण में रोता है और दूसरे ही क्षण हँसने लगता है। आँखों में अभी तो आँसू थे, पर होठों पर स्मित आ गया। मानो महावट (माघ मास) की वर्षा के बीच ही सूर्य का दर्शन ! जबकि जवान पुरूष में ऐसा नहीं होता। वह जल्दी से उदास नहीं होता ; परंतु जब उसके हृदयाकाश में सचमुच बादल छायें, तो वे दिनों तक बिखरते नहीं—ध्रुव में छह महीनों का दिन और छह महीनों की रात होती है, उसी तरह !

इसलिए अपने भावों के आवेग तथा अपनी उदासीनता और उल्लास की घटा-बढ़ी का लेखा यदि तुम अमुक समय तक ब्यौरेवार रखो—अस्पताल में रोगी के बुख़ार के उतार-चढ़ाव का जैसे आलेखन होता है ठीक वैसे—तो तुम्हारे अंदर कितनी स्थिरता-चंचलता तथा कितनी कचाई-परिपक्वता आई है, इस बात का बोध हो जायगा।

एक अन्य उदाहरण संकोच का लें :

युवकों को संकोच अनेक प्रसंगों में हुआ करता है। घर मेहमान आये और बालक कोने में छिपा रहा। बुलाने पर आया तो ज़रूर, लेकिन मुँह से अक्षर भी बोला नहीं। मौक़ा देखकर जल्दी से भाग निकला—छुटकारे का दम खींचकर। कक्षा में शिक्षक बालक को एकाएक खड़ा करे तो मुँह लाल-लाल और कान गरम-गरम होने लगते हैं। आगे चलकर नाटक में पहली बार भाग ले अथवा मंच पर आकर सभा के समक्ष बोलने के लिए खड़ा हो तो पैर काँपने

लगते हैं, गला सूखता है और रटे हुए वाक्य कोशिश करने पर भी याद नहीं आते।

सह-शिक्षा का लाभ लेकर कॉलेज का कोई विद्यार्थी विद्यार्थियों के समूह में पहली बार जाने का साहस करे तो क्या बात की जाय, निगाह किस तरफ़ रखे और हाथ-पैर किस प्रकार हिलाए, यह एक बड़ा प्रश्न बन जाता है। परंतु जैसे-जैसे मनुष्य बड़ा होता है, जैसे-जैसे वास्तविक उम्र बढ़ती है, वैसे-वैसे ही उसका यह संकोच कम होता जाता है। बाद में किसी भी व्यक्ति के साथ वह सहज व्यवहार कर सकता है, सरलता से बात कर सकता है, श्रोताओं के सम्मुख विश्वासपूर्वक खड़ा होकर भाषण कर सकता है, बिना संकोच सामाजिक प्रसंगों में अथवा हँसी-मज़ाक़ में भाग ले सकता है। इसमें निर्लज्ज होने की कोई बात ही नहीं। एक प्रकार का सुकुमार शर्मीलापन तो हृदय का आभूषण और चरित्र का ढाल है ; वह जीवन-पर्यन्त बना रहना चाहिए। परंतु संकोच के शिकंजे में से जितनी जल्दी छूटा जाय, उतनी ही जल्दी परिपक्व व्यक्तित्व का निर्माण हो सकेगा।

परिपक्व व्यक्तित्व का अंतिम मापदंड विवेक है।

विवेक का अर्थ यहाँ 'सभ्यता' नहीं, परंतु नीर-क्षीर-न्याय करने की शक्ति, मनुष्यों को परखना, समीक्षावृत्ति, दिशाज्ञान, दीर्घदृष्टि, तर्कशुद्ध दलील का आग्रह आदि करना चाहिए। इसके लिए पाठ्यपुस्तक तो दुनिया ही है। जीवन द्वारा इसकी परीक्षा होती है, और स्वानुभव ही इसका शिक्षक है ; परंतु इसमें भी आँखें खुली रखकर, अपनी भूलों से और दूसरों की सलाह से सीखकर, दो वर्ष का कोर्स एक वर्ष में ही पूरा किया जा सकता है।

बालक की दृष्टि संकीर्ण होती है, उसकी दुनिया संकुचित होती है। उसके सूर्यमंडल में थोड़े ही ग्रह घूमते हैं—उसके मित्र-मंडल में

थोड़े ही मित्र होते हैं। इस दुनिया का चारों दिशाओं में विकास किया जाना चाहिए। मनुष्यों में गिना जाना चाहो तो विशाल परिचित मंडल, दूरगामी विचार, परोपकारी दृष्टिकोण, वृत्तियों के संतोष में धीरज, संकोच-निवारण तथा विवेकशक्ति का विकास, ऐसा अभ्यास-क्रम हुआ।

एक ही आम्र-वृक्ष पर लगे हुए सब आम एक-साथ नहीं पकते। जड़ों में से जीवन-रस चूसकर और पवन-सूर्य का प्रसाद पाकर जो आम जल्दी पकें, वे जल्दी ही मनुष्य के हाथ में समर्पित हो जाते हैं—उसकी सेवा के लिए।

एक ही उम्र के व्यक्ति अथवा एक ही स्कूल-कॉलेज के विद्यार्थी एक ही साथ जीवन के लिए तैयार नहीं हो जाते। मानवता के मूल में से प्रेरणा लेकर, परिस्थितियों की टक्कर झेलकर और भगवान् की कृपा पाकर, जो मनुष्य जल्दी परपक्व होता है, वह मनुष्य-जाति की सेवा में अपने-आपको जल्दी अर्पित कर सकेगा।

''ग्वाला दूसरे लोगों के दूध में पानी मिलाकर व्यापार चला सकता है, लेकिन अपने ही दूध में पानी मिलाने से उसे क्या फ़ायदा मिलना था !''

(रवीन्द्र ठाकुर)

१२

o

तुम और अन्य

"तुम्हारे जीवन में जैसे-जैसे दूसरों को स्थान मिलेगा, वैसे-वैसे तुम्हारा अपना व्यक्तित्व होगा।"

पुराने समय के खगोलशास्त्री मानते थे कि विश्व का मध्यबिन्दु पृथ्वी ही है। चन्द्र और सूर्य, ग्रह और तारे उसके आसपास चक्कर लगाते हैं। सदियों के बाद वैज्ञानिक दृष्टि विकसित हुई, तब महान् खगोल शास्त्री कोपरनिकस तथा गेलिलियो ने रूढ़िवादियों के रोष का जोखम उठाकर दुनिया को बताया कि पृथ्वी स्थिर नहीं है, न वह विश्व का मध्यबिन्दु है, बल्कि वही सूर्य के आसपास घूमती है।

पृथ्वी पदभ्रष्ट हुई और यह धृष्टता करने के बदले गेलिलियो को कैद भुगतनी पड़ी। परंतु ब्रह्मांड का सच्चा बोध हो जाने से आधुनिक खगोलशास्त्र की नींव पड़ी और आकाशयुग की सिद्धियों के लिए द्वार खुल गए।

मनुष्य भी बाल्यावस्था में यही मानता है कि दुनिया का केन्द्र मैं ही हूँ।

बालक देखता है कि माता-पिता—सूर्य-चन्द्र की तरह—दिन-रात उसके आसपास घूमा करते हैं। उसके मुँह से निकली बात को वे उठा लेते हैं, उसकी एक-एक इच्छा पूर्ण करने

के लिए सब दौड़े-दौड़े फिरते हैं। मानो बालराजा का दरबार हो। रोना यूँ शुरू किया, मानो ढिंढोरा पीटा हो ! दूसरों की भी ऐसी ही ज़रूरतें और इच्छाएँ होती हैं इसका ख़याल बालक को नहीं होता।

फिर घर में छोटे भाई का जन्म होने पर सबका ध्यान उसकी ओर हो जाता है तब, अथवा स्कूल जाने पर कक्षा का एक विद्यार्थी बनकर दूसरे बालकों के साथ बैंच पर बैठना पड़ता है तब, उसे गेलिलियो का संदेश मिलता है—दुनिया का केन्द्र तुममें नहीं, दूसरे ही ठिकाने है।

गेलिलियो के समय कितने ही विद्वानों ने पृथ्वी के मध्यबिन्दु होने का मोह छोड़ने से इन्कार किया, यही नहीं, बल्कि दूरबीन द्वारा देखने से पृथ्वी के परिभ्रमण का निश्चय हो सकेगा, ऐसा उनसे कहा गया तो उन्होंने आँखों पर दूरबीन न लगाने का ही व्रत ले लिया।

अपने को केन्द्र में रखने से न तो विज्ञान की प्रगति होती है और न व्यक्तित्व-निर्माण संभव होता है।

जैसे-जैसे मनुष्य दूसरों के आसपास फिरने लगता है, वैसे-वैसे उसका मानसिक क्षितिज और जीवन-आकाश विशाल बनते जाते हैं। जैसे-जैसे अपना स्वार्थ छोड़कर दूसरों के लिए वह जीना सीखता है, वैसे-वैसे ही उसका व्यक्तित्व परिपक्व होता है।

इस बारे में धर्म का उपदेश, विज्ञान का पाठ, शिष्टाचार का विवेक और मनोविज्ञान की सीख सब एकमत हैं—स्वार्थत्याग प्रगति की आवश्यक शर्त है। मनुष्य यदि अपने चारों ओर फिरता रहेगा तो वह चक्कर खाकर गिर पड़ेगा, लेकिन अगर दूसरों के आस-पास फिरेगा तो जीवनाकाश में ऊँचा-ही-ऊँचा चढ़ता जायगा।

घूमना तो सबको है, लेकिन कोल्हू के बैल और आकाश के

तारों के घूमने में कितना अंतर पड़ जाता है !

एक छोटा-सा प्रयोग करके देखो। किसी मित्र को तुमने हाल में कोई पत्र लिखा हो तो उसमें 'मैं', 'मेरी', 'मुझे' ऐसे सर्वनाम कितनी बार आते हैं और 'तुम', 'तुम्हारा' आदि कितनी बार ; यह गिन जाओ। अगर 'तुम' की अपेक्षा 'मैं' की संख्या बढ़ जाय और तुम्हारी सामान्य बातचीत में भी ऐसा ही होता हो, तो तुम्हारी परिभ्रमण-कक्षा बहुत विशाल नहीं, ऐसा मानने का कारण मिलेगा।

उसे अधिक विशाल बनाने के लिए दूसरों में सच्चे दिल से व्यक्तिगत रस लेने लगो। उनके विचार जानने से तुम्हारी अपनी दृष्टि अच्छी बन जायगी, उनका दुःख देखकर तुम्हारा दुःख कम होने लगेगा, उनके सुख में भागीदार बनकर तुम्हारा आनंद छलकने लगेगा।

घड़े का पानी घड़े में रहे तो वह बँधा हुआ, गतिहीन, निस्पंद रहेगा; लेकिन अगर उसे समुद्र में डाल दिया जाय तो उसमें महासागर का वेग और शक्ति, विशालता और गहनता आ जायगी !

केन्द्र में किसे रखकर जीवनवृत्त रचना चाहिए, यह प्रश्न है !

हृदय-सिंहासन पर किसका अभिषेक करना चाहिए, यह उलझन है !

मन्दिर में किस इष्ट देव की प्रतिष्ठा करनी है, यही सवाल है।

परन्तु पुजारी अगर अपनी ही मूर्ति गद्दी पर बिठा दे, अगर राजपुरोहित अपने ही मस्तक पर अभिषेक करे, तो अनर्थ हुआ कहा जायगा।

और दुःख की बात तो यह है कि अपने-अपने जीवन में हम ऐसी ही धृष्टता कर बैठते हैं। अपने-आपको केन्द्र में बिठाकर

राज्य, पूजा और जीवन चलाते हैं, फलस्वरूप हमारा वृत्त एक छोटे बिन्दु-जैसा हो जाता है।

लोग तुम्हारी स्तुति करें तो तुम्हें अच्छा लगता है ; तुम्हारी बात सुनें तो तुम खुश होते हो ; तुम्हारा अभिप्राय पूछें तो तुम्हारी छाती फूलने लगती है ; तुम्हारा सहयोग माँगें तो तुम्हें अपने महत्त्व का ख़याल एकदम आ जाता है। अब दूसरों का सहयोग लेना, दूसरों की बात सुनना, दूसरों का अभिप्राय जानना, और प्रसंग आने पर पूरे दिल से दूसरों की स्तुति करना तुम्हें सीखना चाहिए। चुनाव के सिलसिले में मत लेने के लिए बाहर निकल पड़े उम्मीदवारों की तरह खुशामद और औपचारिक विवेक का दिखावा करने की बात नहीं ; परन्तु अपनी दुनिया की क्षितिज-रेखा बढ़ाने के लिए, अपने दिल को दरिया-दिल और अपनी दृष्टि को विश्व-दृष्टि बनाने के लिए, दूसरों के लिए ही जीने का मंगल प्रयोग करना ज़रूरी है।

अपने हृदय के आँगन में मेहमानों को आने दो ! उनका आदर-सत्कार करो ! उनकी सेवा को अपनी प्रथम साधना समझो ! कवि के ये उद्गार सदा याद रखो :

"प्रेम करना चाहो तो मुझसे करो, और धिक्कारना चाहो तो मुझे धिक्कारो, लेकिन मेरी एक ही विनय है—मेरी उपेक्षा न करो।"

तुम्हारे जीवन में जैसे-जैसे दूसरों को स्थान मिलेगा, वैसे-वैसे तुम्हारा अपना महत्त्व बनेगा।

चेतावनी का एक शब्द। सेवा के नाम पर स्वार्थ साधने की कुटिल वृत्ति कभी न रखना। दुनिया के बाज़ार में जनसेवा की तख़्तियाँ लगाकर बहुत-से दुकानदार बैठे हैं, परंतु इन दुकानों में चलता है सिर्फ़ लाभ का व्यापार ; जनकल्याण के बहाने

खुदग़र्ज़ी ; समाज-सुधार के झंडे के नीचे समाज-शोषण। यह तो बिच्छू की तरह हँसता मुँह रखकर पूँछ टेड़ी करके विषैला डंक मारने जैसा है।

दूसरे मनुष्यों को अपनी प्रगति का सोपान, अपने कीर्तिमंदिर का पत्थर, अपनी शतरंज के मुहरे कभी न समझो।

मानव-व्यक्तित्व की अमर-ज्योति जैसी तुममें, वैसी ही दूसरों में भी झलकती है।

किसी को अपना साधन न बनाओ। किसी को अपने पैरों के नीचे दबाकर ऊँचा उठने का भ्रष्ट प्रयत्न न करो। दूसरों का सुख छीनकर स्वार्थ सिद्ध करने जाओगे तो स्वार्थ के कोल्हू में पिस जाओगे।

"स्वार्थ स्वयं अति क्षुद्र बना देता है। इसलिए जिस पर स्वार्थ अपना हाथ रखता है, उसे भी क्षुद्र बना देता है। इतना ही नहीं, जिन मनुष्यों का अपना मतलब सिद्ध करने के लिए हम उपयोग करते हैं, वे हमारे सामने अपना मान खोकर यंत्ररूप-से बन जाते हैं। कार्यालय के अधिकारी की दृष्टि में दफ्तर के कर्मचारी मुख्यतः यंत्र ही होते हैं ; सैनिक राजा की दृष्टि में यंत्र होते हैं और जो किसान हमें अन्न खिलाता है, वह सजीव हलसा बना जाता है।"

(रवीन्द्र ठाकुर)

स्वार्थ की सृष्टि अर्थात् जड़-यंत्रों की सृष्टि, बुतों का कारख़ाना, जीवित मुर्दों का क़ब्रिस्तान, जबकि परोपकार की दुनिया प्रेम और मैत्री, विश्वास और उदारता तथा जीवन और उल्लास की दुनिया है।

'मेरी अपनी ही इतनी समस्याएँ हैं कि दूसरों का विचार करने का मुझे अवकाश ही नहीं', यह खुदग़र्ज़ की फ़िलॉसफ़ी है। 'दुनिया में इतने अधिक महान और तात्कालिक प्रश्न हल हुए बिना पड़े हैं

कि मेरे अपने प्रश्न के विचार की बारी अभी आई ही नहीं', यह जीवन–वीर की घोषणा है।

वस्तुतः दूसरों के प्रश्नों को हल करते हुए अपने प्रश्नों का हल आ ही जायगा, जबकि अपने प्रश्नों में उलझे रहने से दुनिया के प्रश्नों में एक और की वृद्धि ही होगी।

दो विद्यार्थियों की डायरी में से ली गई नीचे की पंक्तियों की तुलना करो :

''आज मेरा जन्मदिन है, परंतु हृदय में आनंद नहीं। सोचता हूँ कि हरएक मनुष्य अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए रचा गया है। दूसरा कोई लक्ष्य दुनिया में दीखता नहीं। दो व्यक्तियों के स्वार्थ के परिणाम-स्वरूप ही मैं जन्मा हूँ। दूसरों का स्वार्थ पुष्ट करके बड़ा हुआ। मुझसे फ़ीस लेकर शिक्षक मुझे पास करता है, रिश्वत लेकर पास करता है और अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए मैं एक दिन शादी करूँगा और वृद्धावस्था में मेरे बच्चे मेरी सँभाल कर लें–मानो बीमा पके और पालन-पोषण के लिए रुपए मिलें–इस इरादे से यथाशीघ्र बालकों का पिता भी बनूँगा। स्वार्थ के इस दूषित चक्र में से मुझे कौन बाहर निकालेगा?''

और दूसरे (मैडिकल में अंतिम वर्ष में पढ़ने वाले) विद्यार्थी की डायरी में से :

''आज मेरी अर्ज़ी का जवाब मिला। मुझे घर-ख़र्च दिया जायगा, बाकी अवैतनिक डॉक्टर के रूप में सारे दिन काम। सेवा-कार्य के लिए खुला मैदान। माँ का आशीर्वाद फलेगा ; दूसरों के लिए उपयोगी जीवन व्यतीत हो सकेगा, बचपन से–और ख़ास करके अंतिम पाँच वर्ष से–मेरे मन में उठी हुई अध्ययन और सेवा की अभिलाषाएँ सिद्ध होंगी ; दूसरों के जीवन को धन्य बनाते हुए मेरा अपना जीवन भी धन्य होगा।''

एक ही डोरी को–जीवन-डोरी को–चक्री के चारों ओर स्वार्थ की प्रक्रिया से लपेटें तो वह मुट्ठी में समा जाय ; परंतु उसे पतंग के–जीवन-ध्येय के–सिरे बाँधकर खुला छोड़ दें तो आसमान में बढ़ जाय।

"'मैं' एक बड़ा पत्थर है उसका भार भयंकर होता है जिस ओर 'मैं' को रखो, उसी ओर धीरे-धीरे सब है। झुक जाता है। अगर बचना हो तो इसे पानी में एकदम फेंक सको तो बहुत अच्छा।" (रवीन्द्र ठाकुर)

१३

o

व्यवसाय

"तुम्हारा व्यवसाय तुम्हारे कुटुम्ब के जीवन- निर्वाह के उपरांत तुम्हारी शक्तियों के विकास और व्यक्तित्व को पुष्ट करने के लिए जरूरी साधन तुम्हारे हाथ में देगा और समाज में तुम्हें महत्त्वपूर्ण स्थान भी दिलायगा।"

"बड़े होकर क्या बनोगे ?" बालक पाँच वर्ष का हुआ तभी से यह प्रश्न सुनता आया है और उसका अलग-अलग जवाब भी देता रहा है।

परंतु उसके जवाब में किसी को दिलचस्पी नहीं।

सगे-संबंधी, पड़ोसी, मेहमान और मिलने-जुलने आनेवाले सभी यह प्रश्न पूछते हैं और आज्ञाकारी बालक जो जवाब देता है, उससे खुश होकर हँस पड़ते हैं। बालक को शाबाशी देते हैं, "है न होशियार ! प्रधानमंत्री नहीं तो उपप्रधान तो होगा ही।"

इस बीच बालक सचमुच बड़ा होता जाता है। लुढ़कते-पुढ़कते मैट्रिक तक पहुँचता है और दैवयोग से पास भी हो जाता है। परीक्षा में अच्छे नंबर आने पर विज्ञान की पढ़ाई शुरू करने का मान प्राप्त करता है। यों तो आर्ट्स की पढ़ाई ही क्या ख़राब है ? उसमें भी गणित कच्चा हो तो आप-से-आप डॉक्टर बनने की रुझान होती है, नहीं तो इंजीनियर बनकर तीन पीढ़ियों का स्वप्न पूरा करेगा।

इस प्रकार विषय के प्रति, व्यवसाय के प्रति, जीवन-पर्यन्त किये जानेवाले कार्य के प्रति, रुचि या योग्यता देखे बिना बहुत-से युवक

समाज के चौखटे में बिठा दिये जाते हैं। फलतः पेट का गड्ढा भरने के लिए काम को बेगार की तरह करते जाते हैं और जीवन घिसटता चलता है। उनका पद कितने ही अच्छे नाम से पहचाना जाता हो और उनके हाथ के नीचे कितने ही मनुष्य काम करते हों, परंतु रहे तो वह शुष्क जड़यंत्र के चक्र ही :

दफ़्तर के जीव
सृष्टि के चाकर
जगत् के कारकून
जीवन की चौपड़ पर अनेक निर्जीव मुहरे खड़े हैं।

अपने काम से प्रेम हो, अपने व्यवसाय के लिए गर्व हो, अपने दैनिक कार्य के लिए नित्य-प्रति स्फुरित हो नया शौक, उत्साह और अनुराग हो—सफल व्यावसायिक जीवन की यह पहली शर्त है।

इस दृष्टि से काम बोझ नहीं, बल्कि लाभ बन जाता है ; प्रवृत्ति बेगार नहीं, आत्मक्रीड़ा हो जाती है ; दफ़्तर कारावास नहीं, बल्कि नये घर-जैसा लगता है।

कोई चारा न होने से यह करना पड़ता है, ऐसी वृत्ति के बजाय जीवन-निर्वाह के लिए ज़रूरत न होने पर भी आत्मप्रेरणा से मैं यह काम करता हूँ, ऐसा भाव होना चाहिए। इस तरह काम करने से एक महीने के अन्त में मिलने वाले वेतन के साथ-साथ विकास और व्यक्तित्व-निर्माण का आनंद भी उपलब्ध होता है।

एक विशाल मंदिर के निर्माण का कार्य वर्षों से चल रहा था। एक दिन मुख्य गृह-शिल्पी काम की देखभाल करने आया। कारीगरों का काम देखता जाता और उलाहना, शाबासी, सूचना आदि देता जाता। एक से पूछा, "तुम्हारा क्या काम है ?" जवाब मिला, "यह पत्थर मुझे तोड़ना है।" दूसरे से पूछा, "तुम क्या कर रहे हो ?" जवाब मिला, "मैं

एक दीवार बना रहा हूँ।'' इन जवाबों में उत्साह की ध्वनि नहीं थी, काम भी साधारण और मंदगति से चल रहा था। परंतु थोड़ा आगे बढ़ने पर एक मजदूर को विशेष उत्साह से काम करते देखा। उसका काम तो वही था—पत्थर तोड़कर व्यवस्थित ढंग से बिठाना, परन्तु उसमें मानो सारा दिल डालकर, हँसते मुँह और पूरे वेग के साथ वह अविरत काम किये जा रहा था। पास आकर गृह-शिल्पी ने पूछा, ''तुम क्या कर रहे हो ?'' उसने खड़े होकर गर्व से, आँखों में उत्साह की चमक के साथ, कहा, ''आपको पता नहीं, मैं भगवान् का मन्दिर बना रहा हूँ !'' काम तो उसका भी वही था, परंतु मन के भाव अलग-अलग—पत्थर तोड़ने और भगवान् का मंदिर तैयार करने में जितना फ़र्क ! भावना के जादुई स्पर्श से मामूली मज़दूरी अनन्य भक्ति में बदल जाती है !

डॉक्टर का उदाहरण लो।

इसमें भी स्थूल काम सबके लिए एक-सा ही होता है—नाड़ी-जीभ की परीक्षा करके दवा लिख देना और ''दर्द चालू रहे तो कल फिर आना'', ऐसा कहना। कितने ही डॉक्टर यह काम ऐसी जड़ता से करते हैं कि कारखाने में मोटर की परीक्षा करते मैकेनिक और दवाख़ाने में बीमारों की परीक्षा करते हुए डॉक्टर के बीच कोई अंतर मालूम नहीं पड़ता, जबकि सच्चे डॉक्टर का काम तो भगवान् का मंदिर तैयार करने जैसा ही है। जड़ पत्थरों को नहीं, बल्कि जीवित मूर्तियों को काटछाँट कर और विश्व-मंदिर में अधिष्ठित करके उसे अपने जीवन में सच्चा पुजारी बनना चाहिए।

रोगियों में 'ग्राहक' के बजाय 'मानव' को देखना चाहिए और शरीर की पीड़ा के साथ-साथ दिल के दर्द को भी लक्ष्य में रखकर रोग की दवा के उपरांत मानवता-भरी सान्त्वना, धीरज और हिम्मत का उपचार भी करना चाहिए। सच्चा डाक्टर इसी तरह शरीर के साथ मन की भी चिकित्सा करता है और दवा जब असर न करे, सावधानीपूर्ण निदान

और स्नेहपूर्ण सेवा-सुश्रूषा पर भी प्रकृति-धर्म के अनुसार ज़ब शरीर छूट जाय, तो घरवालों को सांत्वना का अमृत पिलाये बिना नहीं रहता।

यह आदर्श अपने जीवन में मूर्त्त करने की जिसके दिल में उमंग हो, उसी को मेडिकल कॉलेज में दाख़िल होने के लिए अर्ज़ी देनी चाहिए। जिसे निर्लिप्त रूप से सवेरे ११ से ५ तक की नियमित नौकरी करनी हो, जिसे दूसरे के दुःख में हमदर्दी न हो, जिसके हृदय में मानव-सेवा के संस्कार दृढ़ न हों, वह—उसके बाप, दादा, चाचा, मामा आदि चिकित्साक्षेत्र में गये हों तो भी, घर पर बड़े भाई की पाठ्य-पुस्तकें पड़ी हों तो भी, और समस्त मित्र-मंडली सर्वानुमति से मेडिकल कॉलेज में जाती हो तो भी—दूसरा ही कोई रास्ता पसंद करे। इसी में उसका अपना और समाज का हित है।

कौन-सा क्षेत्र या कार्य पसंद करें, पहले यह बताने का प्रयोजन है। तुम क्या कर सकते हो और करना चाहते हो, यही सबसे पहले देखना चाहिए। समाज, कुटुम्ब, पूर्वाग्रह तथा रूढ़ियाँ जो कराना चाहती हों, वह बहुधा भिन्न अथवा विपरीत भी होता है। वस्तुतः तो काम चुनने में अपनी शक्ति और रुचि, जानकारी और सुझाव, कुशलता और दिलचस्पी, मन की तैयारी और आतुरता, इन सबका योग होना चाहिए। जहाँ ज्ञान और भक्ति का प्रत्यक्ष संगम हो, वहाँ अदृश्य सरस्वती के समान कर्म की धारा प्रवाहित होगी और जीवन-योग की त्रिवेणी रची जायगी।

गहरा अध्ययन और अध्ययन के विषय में मन का उत्साह दोनों का जब साथ होगा तभी जीवन में सफलता की धारा प्रकट होगी। लेकिन अगर हृदय और बुद्धि का प्रवाह अलग-अलग हो, अगर दिल का सच्चा आकर्षण एक ओर हो और समाज का खिंचाव दूसरी ओर हो, तो अभागी सरस्वती कहाँ अवतरित होगी ?

क्या करने से धन-दौलत मिलेगी, प्रतिष्ठा बढ़ेगी, इज़्ज़त सुरक्षित

होगी, यह नहीं, बल्कि यह प्रश्न पूछना चाहिए कि क्या करने से मन प्रसन्न होगा, जीवन सार्थक बनेगा और मानव-देह का पूरा उपयोग करने का आत्मसंतोष मिलेगा ? इसका विशुद्ध जवाब ही आगे बढ़ने की दिशा बतायगा।

मनुष्य काम करता है ; परन्तु मनुष्य का काम मनुष्य का निर्माण भी करता है किसान काम करके ही अभ्यस्त बनता है, कवि की वाणी मंत्रवाणी बनती है, और कहा तो यहाँ तक जाता है कि सतत आकाश-दर्शन से खगोल-वेत्ताओं की आँखें आसमानी रंग की बन जाती हैं। आखिर तुम्हारा काम-धंधा तुम्हारे व्यक्तित्व के साथ ताने-बाने की तरह बुन जायगा और तुम्हारा जीवन उसके रंग से रंजित होगा। इसलिए उसकी पसंदगी तुम्हारे जीवन-निर्माण में महत्त्व का भाग रखती है।

तुम्हारा व्यवसाय, तुम्हारे और तुम्हारे कुटुम्ब के जीवन-निर्वाह के उपरांत तुम्हारी शक्तियों के विकास और व्यक्तित्व की पुष्टि करने के लिए ज़रूरी साधन तुम्हारे हाथ में देगा और समाज में तुम्हें महत्त्वपूर्ण स्थान भी दिलायगा।

मल्लाह को अपनी नाव के लिए और विमान-चालक को अपने विमान के लिए जैसी ममता होती है वैसी ही तुम्हें अपने काम-धंधे के लिए होनी चाहिए, क्योंकि उससे ही तुम्हें भवसागर तरना है।

काम लाचारी का नहीं, उत्साह का विषय है।

बाहर से लादा हुआ बोझ नहीं, भीतर से स्फुरित जीवन-प्रवृत्ति है।

गुलामी की ज़ंजीर नहीं, राजा का मुकुट है। काम करते-करते मनुष्य ब्रह्मांड का भेद पाता है ; विश्व की शक्तियों पर आधिपत्य जमाता है ; सृष्टि-शिरोमणि का विरुद सार्थक करता है।

श्रम करना सृष्टि का धर्म है। आलस्य और कामचोरी केवल मनुष्य द्वारा ढूँढ़ी हुई विकृतियाँ हैं। आलस्य से हाथ-पैर ढ़ीले पड़ जाते

हैं, बुद्धि पर ज़ंग चढ़ जाता है, हृदय की धड़कन मंद हो जाती है। कविवर रवीन्द्र ठाकुर की प्रार्थना हमारी भी प्रार्थना बन जानी चाहिए :

"हे प्राणस्वरूप ! मेरी सितार के तार पर ज़ंग न चढ़े, उसपर धूल न जमे, विश्व-प्राण के स्पन्दन के आघात से वह रात-दिन झनझनाती रहे, कर्म-संगीत से गूँजती रहे-प्रबल आघात से बीच-बीच में कुछ तार टूट भी जायँ तो कोई हर्ज नहीं, लेकिन वे ढीले न पड़ने चाहिए, मलिन न होने चाहिए, व्यर्थ न बजने चाहिए।"

ऐसी सितार से निस्संदेह सुमधुर जीवन-संगीत गूँजता रहेगा।

"प्रयोजन के कारण, अभाव के कारण, हम जो कर्म करते हैं, वह कर्म ही बंधन-रूप होता है। आनन्द से स्फुरित काम कभी बंधन-रूप नहीं होता। सच तो यह है कि आनंद के लिए किया गया काम ही मुक्ति-रूप होता है।"

(रवीन्द्र ठाकुर)

१४

०

घर

"माँ बाप में मानवीय दुर्बलताएँ भी होंगी ही, लेकिन अपने हृदय में उनके प्रति पूर्ण प्रेम रखना और व्यवहार में उनका आदरसत्कार करना तुम्हारा परम धर्म है।"

जुलाई में कॉलेज खुलने पर वर्ग में नये विद्यार्थी आते हैं, तो वे एक-से लगते हैं, परंतु धीरे-धीरे अन्तर मालमू पड़ने लगता है। कौन कहाँ से आया होगा, किसका घर कैसा होगा, इसका सहज अनुमान थोड़े दिनों में होने लगता है। कपड़े-लत्ते अथवा साइकिल, स्कूटर, मोटर पर से पिता की आय का जो अनुमान होता है, वह गौण बात है, परंतु बोलने-चालने के ढंग से पारस्परिक व्यवहार में विवेक और शिष्टता बदलने (अथवा उसके अभाव) से जिस तरह प्रत्येक की संस्कारिता अथवा संस्कारहीनता का पता चलता है उसी तरह कौन किसके साथ घूमता फिरता है और कैसी संगति में बैठता है, उसपर से प्रत्येक के पालन-पोषण के संस्कार तुरंत प्रकट हो जाते हैं।

तुम दुनिया के सामने अपने घर के प्रतिनिधि हो और दुनिया तुम्हारे आचार-व्यवहार से ही तुम्हारे कुटुम्ब के बारे में राय बनाती है। राजदूत को विदेश में सचेत होकर रहना होता है, क्योंकि देश की इज़्ज़त-आबरू उसके रहन-सहन और व्यवहार पर भी निर्भर होती है।

राजदूत की बात एक तरह से राजा की ही बात होती है। इसी तरह कुल की प्रतिष्ठा उसके वंशज के हाथ में होती है। इतनी जिम्मेदारी तुम्हारे ऊपर आ चुकी है।

अन्य दृष्टिकोण से देखें तो तुम्हारा घर तुम्हारे व्यक्तित्व-निर्माण की प्रथम पाठशाला और अंतिम विद्यापीठ होता है। तुम उसके स्नातक हो, इसलिए अपनी वास्तविक मातृसंस्था को दीप्तिमान करना तुम्हारा कुलधर्म हो जाता है। स्कूल-कॉलेज तुम बदल सकते हो, परंतु घर की जीवन-शाला बदली नहीं जा सकती। इसलिए इस कुल-धर्म का पहला नियम उसे (घर की जीवनशाला को) हृदय से स्वीकार करना है।

आत्म-स्वीकृति का मूल सिद्धान्त यहाँ भी लागू होता है। अपनी पसंदगी ही के माँ-बाप तुम्हें मिले हों, यह बात नहीं, और उनमें पूर्ण प्रेम रखना, व्यवहार में उनका आदर-सत्कार करना और समाज में उनके लिए गौरव अनुभव करना, तुम्हारा परम धर्म है। उनके लिए गौरव अनुभव करना, तुम्हारा परम धर्म है।

एक युद्ध-मोरचे के पास विश्राम के समय सेना के जवानों और अफ़सरों की टोली जमा हो गई थी। लड़ाई की बातें चल रही थीं–किसकी बहादुरी बढ़कर है, जिसका पराक्रम अधिक है, आदि। इतने में एक ग़रीब वृद्ध स्त्री हाथ में एक पोटली लेकर उधर आती दिखाई दी। टोली में से एक ने मज़ाक किया, "बुढ़िया, यह महादेव का मंदिर नहीं, फ़ौज का पड़ाव है ! बोलो, यमदेव को कुछ चढ़ाना है ?" लेकिन वृद्धा शांत रही और स्नेहपूर्वक एक अफ़सर के पास आकर खड़ी हो गई, जो उसका बेटा था। सहज-भाव से वह बोली, "मुझे मालूम था कि तू यहाँ है, इसलिए आशीर्वाद देने आ गई हूँ। बेटा, मातृभूमि के लिए बहादुरी से लड़ना ! तुझे पंजीरी और नमकीन पूरी पसंद है न, वह मैं तेरे लिए बनाकर लाई हूँ। अपने मित्रों को भी खिलाना।" सब देखते रहे। वह शर्मिंदा होगा और कुछ सुना भी देगा, ऐसा सबने सोचा था, परन्तु

आफीसर कुलीन व्यक्ति था। सबके देखते उसने आगे बढ़कर माँ के चरणों में प्रणाम किया और खाने की पोटली हर्ष से लेकर उसी समय पूरियाँ सबको बाँटने लगा, "सब लो, यह माँ का प्रसाद है। इसे ग्रहण कर कल ज़रूर जीतेंगे।" निस्संदेह दुश्मनों के हमले को खुली छाती झेलने की अपेक्षा सबके सामने माँ-बाप का सत्कार करना अधिक बहादुरी की बात होती है।

अपनी और अपने बुज़ुर्गों की दुनिया के बीच पड़ी हुई कम-से-कम बीस-बीस वर्ष की खाई का तुम ख़याल रखोगे, तो बहुत-सी नासमझी और अनबन अपने आप टल जायगी। निःश्वास छोड़ते हुए पिता बड़बड़ाया, "मुझे मोटर चलाना नहीं आता, और यह मेरा लड़का लाइसेंस के बिना स्कूटर दौड़ाता है !" लड़के के स्कूटर चलाने का दुःख पिता को न होना चाहिए, और लाइसेंस मिलने से पूर्व स्कूटर चलाने की जल्दबाज़ी लड़के को नहीं करनी चाहिए।

संघर्ष में सदैव दो वस्तुएँ होती हैं।

क्लेश में दो व्यक्ति होने चाहिए।

एक अगर दूसरे का ध्यान रखे, तो संघर्ष कम हो जाय।

"ये लोग मुझे समझते नहीं", यह तो तुम्हारी हमेशा की शिकायत है ; परन्तु क्या तुम सचमुच उन्हें समझने का दावा कर सकते हो ? उनके पक्ष में इतना तो कहा ही जा सकता है कि जवानी का उन्होंने अनुभव किया है, जबकि तुम तो प्रौढ़ावस्था के बारे में सिर्फ़ सुनी-सुनाई बातें ही जानते हो। तुम्हें उसका जब प्रत्यक्ष अनुभव होगा, तब दूसरी पीढ़ी तुम्हारा आज का स्थान लेकर तुम्हारी यही शिकायत तुमसे करने लगेगी। इस बीच युवक तथा बुज़ुर्गों के बीच के भेद को समझने के लिए, इन बातों पर ध्यान दो—युवक के पास अखुट शक्ति और स्फूर्ति का भंडार है, जबकि बुज़ुर्ग जल्दी थक जाता है ; युवक के हृदय के भाव वर्षाऋतु के आकाश की तरह देखते-देखते बदल जाते हैं, जबकि बुज़ुर्ग

का मनोभाव स्थिर होता है ; युवक हमेशा जल्दबाज़ी करता है, बुज़ुर्ग घड़ी की तरह धीमे चलता है ; युवक प्रयोगशील है, बुज़ुर्ग रूढ़िप्रिय है ; युवक अपनी चिन्ता करता है, बुज़ुर्ग युवकों की ही चिन्ता करता है ; और इसमें शक नहीं कि युवक बुज़ुर्गों की आलोचना करते हैं, जबकि बुज़ुर्ग युवकों की प्रत्यालोचना करते हैं।

दुनिया को कभी-कभी बुज़ुर्ग के चश्मे से देखने का प्रयोग करोगे, तो दो पीढ़ी के बीच का अंतर तुम्हारे लिए घट जायगा।

राजकुमार एक दिन ज़रूर गद्दी पर बैठेगा, परन्तु इसके लिए जल्दबाज़ी करना उसके लिए शोभास्पद नहीं। राजनीति और शासन-तंत्र का कुछ भी अनुभव लिये बिना यदि राजदंड उसके हाथ में आए तो प्रजा के लिए दुःख के दिन आए समझो।

घर में भी, युवक के सामाजिक विकास के लिए अनुकूल वातावरण तैयार किया जाना चाहिए। पच्चीस वर्ष के तरुण को घर के सब लोगों के द्वारा 'बेबी' कहकर संबोधन करने में प्रेम का प्रमाण ज़रूर मिलेगा, परंतु व्यक्ति-विकास की दृष्टि से आत्मस्वातंत्र्य को कुम्हलाने वाला यह प्रयोग है।

बालक को कबतक पालने में सुलाया जा सकता है ?

चीन देश में ऐसी रूढ़ि थी कि स्त्री के पैर छोटे ही अच्छे लगते हैं। इसलिए बचपन से ही लड़की के पैर लकड़ी के सख़्त जूते में जकड़कर बड़े नहीं होने दिये जाते थे।

पैर की अपेक्षा आत्मा का ही जब रूढ़ि के चौखटे में दम घोंटने की कोशिश की जाय, तो युवक का तेज विनष्ट हो जाता है।

इसके विपरीत, माँ-बाप की स्नेहभरी देखभाल में पलते हुए युवक को, क्रम-क्रम से अधिक छूट मिलती रहे ; पैसे ख़र्चने की ज़िम्मेदारी, कपड़ों की पसंदगी, घूमने-फिरने की छूट धीरे-धीरे उसे मिलती रहे, और आज्ञापालन के साथ स्वतंत्रता, सलाह के साथ स्वानुभव, भूल

करने की शक्यता के साथ भूल मान लेने की और दण्ड को स्वीकार कर लेने की संस्कारिता स्वावलम्बन के साथ मार्गदर्शन माँगने की तैयारी उसमें आ जाय, तो जैसे तैरना सीखनेवाला अपने-आप हाथ-पैर हिलाता है, परंतु साथ-ही-साथ समीप खड़े हुए शिक्षक की ओर देखता है और आवश्यक पड़ने पर उसका हाथ भी पकड़ता है, वैसे ही घर का युवक माँ-बाप का आधार लेकर संसार-सागर में तैरने की कला हस्तगत कर सकता है।

कुटुम्ब के प्रति पूर्ण भक्ति भी कुलधर्म का सिद्धान्त है।

घर की बात घर से बाहर न जाय ; घर के मैले कपड़े घर में ही धोये जायँ। भाई की निन्दा भाई का मुँह लजाती है ; माँ-बाप की आलोचना सुपुत्र की जीभ बिगाड़ती है।

प्रथम नमक तो घर का ही चखा, इसलिए पहली नमक हलाली घर के प्रति ही होनी चाहिए।

घर में दुःख हो, तब बाहर न कहा जा सके, ऐसा दुःख हो, तब क्या करना चाहिए ?

जिनके बीच गाढ़-से-गाढ़ आत्मीयता होनी चाहिए, वे ही अगर झगड़े, अनबन और पृथकता तक के शिकार बने हों तो क्या करना चाहिए ?

घर के दुःख-जैसा और दुःख नहीं।

माँ-बाप के पारस्परिक क्लेश-कलह का लड़के के कोमल मन पर मर्मांतक आघात होता है।

कोमल मन और हृदय में जो घाव होता है वह कभी भरता नहीं, परंतु इसमें भी पहला सिद्धान्त स्वीकार करना है। दुःख से भागने से दुःख की वृद्धि ही होती है। अगर तुमने ऐसा दुःख देखा हो तो तुम्हारी ज़िम्मेदारी बढ़ी और जीवन में सफलता प्राप्त करने की तुम्हारी

आवश्यकता भी बढ़ गई समझो। घर की प्रतिकूल परिस्थिति होने पर भी, तुम्हारे द्वारा उपलब्ध जीवन-सिद्धि घर का दु:ख भुलायगी, समाधान करायगी और कुटुम्ब की मर्यादा पुनः स्थापित करेगी।

अंतिम बात।

एक दिन तुम्हें भी अपना घर बनाना है, अपने कुटुम्ब का निर्माण करना है। अभी संकल्प करो कि वह संपूर्ण रूप से आदर्श घर होगा। और "मैंने जो सुख देखा है, उससे सौ गुना सुख अपने घर में बसा दूँगा।"

यही सच्ची प्रतिज्ञा है। ऐसा कुलव्रत तुम्हारे आज के और आने वाले कल के घर को दीप्त करेगा।

१५

o

मित्रता

"आदर्श मित्र बनने की प्रक्रिया में मनुष्य का व्यक्तित्व सुदृढ़, सुशोभित एवं समृद्ध बनता है।"

एक अच्छे विचारक ने अपनी डायरी में आदर्श मित्र की यह व्याख्या लिखी है–"मेरा मित्र और मैं : कुल योग एक भी नहीं, और दो भी नहीं।"

जो मनुष्य ऐसा दावा कर सके, जो कम-से-कम अपने अंतरंग मित्र का निर्देश करते हुए विश्वास और कृतार्थता के साथ कह सके कि 'हम साथ मिलकर एक नहीं तो दो भी नहीं होते, मेरे पास वह आता है तो न तो मेरा एकान्त टूटता है और न वह मुझे कभी खलता है ; उसकी उपस्थिति में मैं अकेला भी नहीं और दूसरे के सम्मुख होऊँ, ऐसा भी नहीं लगता", उसका जीवन धन्य है।

सच्ची मित्रता संसार-सागर की तरंग, विश्व-उद्यान का सौरभ और हृदय-मंदिर का अखंड दीप है।

मित्र-प्रेम मानव-हृदय का उत्कृष्ट भाव है। जो इस भाव को हल्का बताये, वह यही सिद्ध करता है कि सच्चा मित्र प्राप्त करने का सौभाग्य उसने कभी पाया ही नहीं।

मनुष्य को एकांत अखरता है।

कोई समाचार मिला कि तुरन्त दूसरे से या किसी से भी कहने को दौड़ता है ; विनोद सूझा तो दूसरे से कहे बिना चैन नहीं पड़ता ; दिल में

चिन्ता पैदा होते ही दूसरे के सामने दिल खोले बिना छुटकारा नहीं होता। ऋषि-मुनि हिमालय के जंगल में, मौनव्रत की सिद्धि में, आनंद की उमंग उठने पर, वृक्षों की छाल उखाड़कर दुनिया को अपने आनंद का संदेश क्या नहीं पहुँचाते थे ?

एक लेखिका मार्मिक, कलात्मक एवं विरोधाभास के रूप में लिखती है, "एकांत का लाभ अपूर्व है, पर दूसरे के साथ इसका आनंद लिया जा सके तभी।"

एक वैज्ञानिक उपन्यास का नायक मानव-जाति से रुष्ट होकर पृथ्वी पर कभी वापस न आने की प्रतिज्ञा करके, अपने आकाश-यान में अकेला ब्रह्मांड की अनंत यात्रा को रवाना हुआ। लेकिन आकाश-सृष्टि की अद्भुत शोभा का दर्शन होते-होते वह बुदबुदाने लगा, "ओह, कैसा अद्भुत सौन्दर्य !" औरों को भी उसका वर्णन सुनाने की तीव्र लालसा से वह तुरंत आकाश-यान लौटाकर पुनः मानव-जाति की गोद में आ गया।

मनुष्यों के बीच रहने से मनुष्य का बाह्य एकांत तो मिट जाता है, परंतु हृदय का सूक्ष्म एकांत समाज की हलचल और दोस्तों के हँसी-मज़ाक से भी दूर नहीं होता, बल्कि बढ़ जाता है। आडम्बर-भरे समारोहों के बीच हृदय की गहराई में अकेला होने की रहस्यमय प्रतीति किसे न हुई होगी !

समाचार, चुटकुले, अफ़वाह और आलोचनाओं का विनिमय हर किसी के साथ हो सकता है ; परन्तु हृदय की बातों–भावना, दुःख, संकोच, स्वप्न और आकांक्षाओं आदि– के विनिमय के लिए सच्चे मित्र की ज़रूरत पड़ती है।

मित्र को अंतर की बातें निकलवाने का कुतूहल नहीं होता। इसीलिए उससे उन्हें कहने का मन होता है।

मित्र की हृदयवीणा के तार हमारे तारों के साथ गुँथे होने से, एक ही

स्पंदन से सारा गीत गूँज उठता है ; एक ही शब्द से सारी बात समझ मे आ जाती है ; इसीलिए उसके सामने, मन की उलझन सरलता से प्रस्तुत की जा सकती है।

मित्र के पास दु:ख का स्थूल उपाय नहीं होता, इसीलिए कृतज्ञता से दब जाने के भय बिना उसे अपने दु:ख का भागीदार बनाया जा सकता है।

मित्र अडिग सच्चाई से मन की बात मन में दबाकर रख सकता है। कुएँ की तरह चाहे जो चीज़ उसमें डाली जाय, वह उसकी शिकायत नहीं करता। इसीलिए मन-मंदिर के द्वार उसके सामने खोले जा सकते हैं।

सचमुच मित्र-प्रेम हृदय-वृन्दावन का अमृतफल है।

इतनी आत्मीयता होने पर भी सच्ची मित्रता में एकाधिकार नहीं होता। दो के बीच तीसरा आये, तो दोनों के आनंद में वृद्धि होती है। शुद्ध मित्र-भाव का देह के साथ कोई वास्ता नहीं। सच पूछो तो मित्रों को एक-दूसरे में नहीं, परन्तु दोनों को एक ही प्रवृत्ति में, एक ही स्वप्न में एक-समान रस होता है। वे एक-दूसरे के बारे में, अथवा अपनी मैत्री के बारे में बहुत बात नहीं करते, परन्तु एकरूप हो जाने के पश्चात् दुनिया की सब बातों की एक दृष्टि से छानबीन करते हैं और अपना जीवन एक ही साँचे में ढालते हैं। अनेक प्रकार के विचारों, मूल्यांकनों, योजनाओं और आकांक्षाओं का परस्पर विनिमय मित्रता का ताना-बाना है।

देना-लेना मैत्री-व्यवहार के केन्द्र में रहता है। इसलिए जिसके पास सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक संपत्ति हो, जिसका हृदय-कोष समृद्ध हो, और परिणाम-स्वरूप ये संस्कार दूसरे के पास से ग्रहण करने की जिसकी तैयारी हो, वही सच्चे मित्र की व्याख्या में आ सकता है। जिसके पास कुछ भी न हो, वह दूसरों को किसी चीज़ का भागीदार भी नहीं बना सकता।

हृदय ख़ाली हो, तो उसके द्वार खोलने से क्या लाभ ?

कहीं भी जाना न हो, तो यात्रा में साथ देनेवालों को ढूँढने का क्या अर्थ ?

मित्र शब्द सापेक्ष है। सेतु दो खंडों के बीच में ही होता है। "वह मेरा मित्र है, परंतु मैं उसका मित्र नहीं", यह वाक्य अर्थहीन ही है।

एक बार एक ही कक्षा के विद्यार्थियों को अपने मित्रों की क्रमबद्ध सूची बनाने को कहा गया ; परन्तु सूचियों में बराबर मेल न बैठा। रमेश की सूची में पहला स्थान दिनेश का आया, परंतु दिनेश की सूची में पहला स्थान रमेश का न आकर किसी और का आया। यह दोस्ती होगी, भाईचारा होगा, परंतु सच्ची मित्रता नहीं।

मित्रता का बीज़ दोनों क्यारियों में एक ही वेग से उगता है, और एक ही वसंत में खिलता है। मित्रों में छोटा कौन और बड़ा कौन, यह प्रश्न अर्थशून्य है। दोनों स्तंभ समान हों, तभी उनपर वन्दनवार ठीक बैठती हैं।

अपनी वृत्ति परखने के लिए अपने आज के मित्रों की और तीन वर्ष पहले के मित्रों की दो सूचियाँ बनाओ। फिर दोनों की तुलना करो। क्या पुरानी सूची के बहुत-से नाम रद्द हुए, अथवा कुछ नये नाम नई सूची में जुड़ गये ? सच्चे मित्र थोड़े ही होते हैं, परंतु जीवन में हम जैसे पृथक्-पृथक् अवस्थाओं में से गुजरते हैं, वैसे-वैसे नये सम्बन्ध जोड़ना भी हमें आना चाहिए।

नये मित्र बनाने के लिए मुझे क्या करना चाहिए ? तुम्हारा अगर यह प्रश्न हो—जैसे बहुत-से दूसरों का है—तो इसका सीधा जवाब यह दिया जा सकता है कि (मित्रता में एक-दूसरे का गुण-ग्रहण होने से) मित्र बनाने के लिए प्रथम तुम स्वयं मित्र बन जाओ। अपनी हृदय-समृद्धि का दूसरों को भागीदार बनाओ ; दूसरों की भावनाओं का आदर करो ; वफ़ादारी के व्रत का निष्ठा से पालन करो ; गुप्त बातों को गुप्त ही रखो।

ज़रूरत पड़ने पर दूसरों की मदद माँगो, और दूसरे तुम्हारी मदद माँगें, उससे पहले ही उनकी मदद के लिए तैयार रहो। और, मित्र के लिए न्याय करने का प्रसंग आये तब अपने को भाग्यशाली समझो।

मित्रता की कसौटी—और उसकी साधना की पराकाष्ठा—बलिदान है। दूसरों के लिए जड़ कर्त्तव्य-बुद्धि से नहीं परंतु हृदय की उमंग से छोटा-बड़ा त्याग हँसते-हँसते करने की तैयारी दिखाओगे तो तुम्हारे जीवन-आकाश में नये तारे उदित होंगे।

ग्रीक साहित्य में, डामोन और पिथियास नाम के दो आदर्श मित्रों की बात आती है। तानाशाह राजा डायोनिसस को गद्दी से हटाने के षड्यंत्र में दोनों सम्मिलित हुए ; पिथियास पकड़ा गया और उसे मृत्यु-दंड मिला। उसने घर जाकर अपने सगे-संबंधियों से मिल आने की राजा से अनुमति मांगी। डामोन ने जब अपने मित्र के लिए जामिन बनने की तैयारी बताई तभी राजा ने अनुमति दी—"तीन दिन में यह वापस न आये तो तुझे ही फाँसी पर लटकाया जायगा।" पिथियास घर जाने को रवाना हुआ। एक दिन जाने में, एक घर रहने में, और एक वापस आने में, ऐसी उसकी गणना थी; परंतु वापस आते समय मुसीबतों की श्रृंखला खड़ी हुई। नदी में बाढ़ आ गई, जंगल में लुटेरों का सामना हुआ, घोड़ा भड़क गया, रास्ते में पटक दिये। इतने में तीन दिन की मुद्दत पूरी होने को आई। डामोन को चौक में खड़े किये हुए फाँसी के मंच पर ले-जाया गया। तब राजा ने उसका उपहास किया, "तेरा मित्र निश्चय ही तुझे धोखा देकर भाग गया है। भले आदमी, किसी का कभी विश्वास न करो, यह पाठ तुझे देर से सीखने को मिला।" और उसे फाँसी पर चढ़ाने का हुक्म दिया। डामोन अपने हाथ से गले में फंदा डालकर बोला, "मुझे निश्चय है कि उसे आने में अवश्य कोई बाधा उपस्थित हुई होगी। पर मैं तो उसके लिए खुशी से प्राण देने को तैयार हूँ। वह आये तब उसे कोई सज़ा न हो, आपका यह वचन मैं

आपको याद दिलाता हूँ।" सबकी आँखें मंच पर लगी हुई थीं, अचानक दूर से पुकार सुनाई दी, "ठहरो! ठहरो! मैं आ पहुँचा हूँ।" हाँफते-हाँफते आकर पिथियास ने अपने मित्र को गले लगा लिया। राजा यह अद्भुत दृश्य देखकर दंग रह गया। दोनों मित्रों को बुलाकर प्राणदंड से मुक्त किया और माफ़ी माँगकर प्रार्थना की, "मुझे भी अपने मित्र-रूप में स्वीकार करो।"

आदर्श मित्र बनने की प्रक्रिया में मनुष्य का व्यक्तित्व सुदृढ़, सुशोभित और समृद्ध बनता है। मित्रहीन मनुष्य तारों के बिना आकाश तथा पक्षियों के बिना उपवन के समान है। मैत्री का सौम्य संगीत सुनकर हृदय को पंख लग जाते हैं, मन में अलौकिक उल्लास की बाढ़ आती है, जीवन-यात्रा की मंज़िल तय करने के लिए अदम्य उत्साह अनुभव होता है।

जिसे सच्चा मित्र मिल गया, उसे
जीवन का ख़ज़ाना ही मिल गया।
जो स्वयं सच्चा मित्र बना, वह
सच्चा इन्सान भी बन गया।

१६

०

संयम

''संयम के ही स्कूल में उज्ज्वल व्यक्तित्व बनता है।''

पवित्रता का बोध सरल है। ब्रह्मचर्य के आदर्श तथा विवाहित जीवन की मांगलिकता का मनोरम वर्णन करना और पवित्र जीवन से इहलोह एवं परलोक में होनेवाले लाभ गिना देना भी सरल बात है। परंतु वास्तविक काम तो इन बातों को कहने-सुनने के बाद ही शुरू होता है।

कक्षा में पाठ चला। अब उसे बराबर समझकर, लिखकर, विचारकर, पचाकर तैयार करने की ज़िम्मेदारी विद्यार्थी की है।

हृदय में बीज पड़ा। उसका सिंचन, रक्षण, पोषण करके, उसमें से वृक्ष पैदा करने की ज़िम्मेदारी ही जीवन-कृषक की है।

शुद्ध-जीवन का गौरव इसमें ही समाया हुआ है कि वह बाहर से मँगाई हुई चीज़ नहीं बल्कि अन्तर की प्रेरणा और आत्म-प्रयत्न से प्राप्त की हुई सिद्धि है। रटे हुए पाठ और स्वप्रयत्न से हल किये हुए सवाल के बीच जितना अंतर है, उतना ही इनमें है। व्यक्तित्व-निर्माण का काम स्वयं व्यक्ति का है, यही इसका सीधा अर्थ हुआ। आदर्श तथा पवित्र जीवन की बातें सुनकर अगर कोई कहे कि ''तुम्हारी बात सच्ची, लेकिन मुझे अपना व्यसन प्रिय'' तो फिर बात ही खत्म। बेशक ऐसी

स्पष्टता से कहनेवाला तो कोई ही मिलता है। वास्तविक जोखम तो उन युवकों के लिए है, जो कुछ उदासीनता से और कुछ लाचारी से विनय-पूर्वक कहते हैं, "तुम्हारी बात सच्ची; तुम्हारा आदर्श अच्छा; लेकिन हम रहे कलियुग के जीव, बीसवीं सदी के संसार में ऋषियों का-सा जीवन जीना संभव नहीं। मर्यादा जितनी पालन हो सकेगी, उतनी पालन करेंगे। लेकिन ज़माने के अनुकूल हुए बिना कोई छुटकारा नहीं।"

इस प्रकार, आदर्श और व्यवहार के बीच समझौता करने का वे प्रयत्न करते हैं। बाते अच्छी सुनते हैं, कर्म खराब किये जाते हैं। एक हाथ से भगवान की और दूसरे हाथ से संसार की आरती उतारते हैं।

इस नाटक में जोखम है।

इस समाधान में कुटिल व्यापार-बुद्धि है।

इस मिश्र प्रयोग में निष्फलता के बीज हैं।

एक म्यान में दो तलवारें नहीं रहतीं।

व्यसन और वह भी अशुद्धता का—चिकनी चीज़ है, चिपक जाता है, लिपट जाता है और चिमट जाता है। सूक्ष्म तार द्वारा वज्र का बंधन बनाता है; मकड़ी के जाले गूँथकर क़ैदख़ाने की दीवार बाँधता है।

प्रथम यह, नम्र-भाव से सुख देने और सेवा करने का यक़ीन दिलाता है; लेकिन मौक़ा देखकर ढोंग छोड़ देता है और उद्धत बन आत्मा के सिंहासन पर बैठ जाता है। इस नौकर को घर के अन्दर पैर रख़ने दोगे, तो उसके गुलाम होने की तुम्हारी बारी आ जायगी।

आदत का बंधन;

लत का दासत्व;

व्यसन का राज्य।

कहाजाताहैकिश्रीशाहुमहाराजकासेनापतिगुत्तीकरघोरपड़ेहैदर के हाथ बंदी हुआ, तब उसे मानपूर्वक चाँदी की बेड़ी पहनाई गई।

चाँदी की बेड़ी,
सोने का पिंजरा,
राजमहल का कारावास!
यह है वासना का वास्तविक रूप।

"मनुष्य बार-बार दुःखपूर्वक कहता है कि वासना की दासता बड़ी दुःखद दासता है। इसमें जो खूराक मिलती है वह भूख को सतत बढ़ाया करती है और तरह-तरह के आकर्षण कहीं शांति नहीं पाने देते। वासना संसार की भूल-भूलैया में भटका देती है, और अंत में मज़दूरी चुकाते समय वेतन में बनावटी रुपया देती है।" — टैगोर

यह सचमुच आश्चर्य की ही बात है कि इस दुःखद चाकरी के लिए इतने अधिक उम्मीदवार हैं। अन्य बातों में अनुभव का पाठ लेकर हम समझदार बनते हैं, वैसा ही इसमें भी क्यों नहीं होता?

इस चाकरी को वक़्त रहते न छोड़ा जाय तो कैसे बुरे परिमाण आ सकते हैं यह नीचे दिया चौंका देनेवाला उदाहरण अच्छी तरह बताता है।

आधुनिक गणित में सबसे उज्ज्वल नाम समूह-शास्त्र के शोधक फ्रेंच विद्वान् गालोआ का है। दुःख की बात यह है कि २१ वर्ष भी पूरे न हुए थे कि उनका अवसान हो गया और वह दुःखद अंत उनके असंयमी व्यवहार का ही परिणाम था।

स्कूल में उच्छृंखल, घर में झगड़ालू, समाज में बदनाम। दो बार जेल भी हो आये थे। (गणित का अपना संशोधन-कार्य बहुत-कुछ जेल में ही किया था)। जेल में भी बीमारी होने पर, चिकित्सा के लिए उन्हें अस्पताल ले जाया गया। वहाँ शरीर से तो वह स्वस्थ हुए, लेकिन एक नर्स के साथ उनका अनुचित संबंध हो गया। नर्स विवाहिता थी, इसलिए उसके पति ने लांछन दूर करने के लिए गालोआ को द्वन्द्व-युद्ध

के लिए ललकारा। पेट में गोली लगने से, गालोआ की दूसरे दिन करुण मृत्यु हो गई।

मरने से पूर्व की रात उन्होंने मित्रों को दो पत्र लिखे थे। वे मानव-जाति के इतिहास में बेजोड़ लेख हैं। एक में गणित-सम्बन्धी अपनी अद्भुत शोध को संक्षेप में स्पष्ट कर उसे किसी प्रख्यात गणितज्ञ को पहुँचाने की प्रार्थना की। आज उच्च गणित की जो शाखा 'अरूप बीजगणित' के नाम से पहचानी जाती है, उसकी रूपरेखाएँ उसमें थीं।

दूसरे में गालोआ ने अपना दिल खोला था— "एक अधम वेश्या के पाप के कारण मैं मर रहा हूँ। मेरा जीवन एक करुण प्रहसन बनकर नष्ट हो रहा है। इतनी युवावस्था में मरना, इतनी तुच्छ वस्तु के लिए मरना, इतने अद्भुत शोध शेष छोड़कर मरना कितने तिरस्कार की चीज है!"

२१ वर्ष की कच्ची उम्र में, विज्ञान-आकाश की एक ज्वलंत ज्योति बुझ गई वासना की आंधी में!

अगर गालोआ २० वर्ष और जीया होता, तो गणित के इतिहास में निश्चय ही कुछ नये प्रवाह बहे होते।

संयम के अभाव से मनुष्य का व्यक्तित्व विकृत बन जाता है, स्वभाव अप्रिय बन जाता है, जीवन-कार्य अधूरा रह जाता है। जीवन में प्रत्यक्ष निष्फलता का कारण बहुधा वासना का गुप्त हमला होता है। अशुद्ध व्यसन का वेग बढ़ने से अध्ययन का मानदंड गिर जाता है, यह बहुत-से विद्यार्थियों का अनुभव है।

ऐसी ही परिस्थिति का वर्णन करता हुआ, एक विद्यार्थी का पत्र मैंने एक पुस्तक में छपाया था। उसमें था—प्रथम उज्ज्वल कार्यकलाप, फिर वासना की पकड़, और आख़िर स्वप्नों का मिट्टी में मिल जाना। फिर तो कितने ही युवकों के पत्र मेरे पास आये, बहुतों ने मुँह से भी कहा— "इस पत्र में मेरी हीं आत्मकथा लिखी लगती है।"

ठीक, परंतु इस पत्र का दूसरा भाग भी था। जिसे गिरना आया था, उसे फिर शिखर पर चढ़ना भी आया। दुश्मन के क़ब्ज़े में गया हुआ किला फिर से जीत लेना कम पराक्रम की बात नहीं।

शुद्ध जीवन की साधना में मानव-हृदय के श्रेष्ठ संस्कार खिलते हैं–संयम का गौरव, विवेक का चमत्कार, मर्यादा की शोभा, और आत्मबल की पहचान। युद्धक्षेत्र में, चरित्रवान को अपने व्यक्तित्व का निर्माण करने और भविष्य उज्ज्वल बनाने का अपूर्व अवसर मिलता है।

इस युद्धक्षेत्र में विचार, इन्द्रिय और देह के सामने एक-साथ मोरचाबन्दी करनी होती है।

इसमें बाहर के लालच के साथ भीतर की वासना हाथ मिलाने को तैयार हो जाती है और मित्र भी बहुत बार दुश्मन के पक्ष में चले जाते हैं।

इसमें हार-जीत के प्रत्यक्ष-साक्षी नहीं होते; इसलिए हारने की न लज्जा लगती है, और न जीतने का जोश ही चढ़ता हैं।

इसमें दिन और रात, एकांत में और समूह में, समय-असमय, संग्राम चलता ही रहता है। रात को युद्ध-विराम होता नहीं, और संधि पर कभी हस्ताक्षर होते नहीं।

इस सतत संघर्ष में जो अपने प्रयत्न और पुरुषार्थ से, विवेक और उत्साह से, आत्म-संयम और निश्चय-शक्ति से, बुजुर्गों के आशीर्वाद और प्रभु की प्रार्थना से, विजयी होता है वह सचमुच अपने मन, हृदय और देह पर प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है।

संयम के ही स्कूल में, उज्ज्वल व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

''कॉलेज में दाख़िल होने के लिए आते समय अध्ययन के बीच ब्रह्मचर्य पालने की प्रतिज्ञा मैंने अपनी माँ के सामने ली है; अब इस

प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए मुझे आप मदद करेंगे?" नये विद्यार्थी को ऐसा बोलते सुनकर उसके प्रति मान और स्नेह उभरता ही है और ऐसा आशीर्वाद अपने-आप मुँह पर आता है–"तुम्हारी प्रतिज्ञा सौ-गुनी फले, बेटा!"

वर्षा के अंत में थोड़े दिनों तक मुझे रोज़ सवेरे खेतों में बीच जाना होता था। रास्ते में एक कमल-कुण्ड आता। मैं रोज़ इस सौन्दर्य के प्रदर्शन को निहारने कुछ देर खड़ा रह जाता।

पंखुड़ियों की श्वेत शोभा, कमल-पत्रों की अलिप्त ध्यान-समाधि, जलतरंगों की निर्मल क्रीड़ा, मानो प्रकृति का कुशल कला-सृजन हो।

परंतु एक रात आकाश रूठा। बिजली चमकी। हवा चली। बरसात की रात कहे, मेरी बारी। सबेरे फिर शांति छा गई। बादल बिखर गये। आकाश स्वच्छ हो गया। परन्तु रोज़ की तरह जब मैं कमल-कुण्ड के किनारे खड़ा हो गया, तो मेरा दिन धड़कने लगा। कुण्ड का जल मैला था, फूलों को डंडियां टूटी हुई थीं, पंखुड़ियाँ बिखरी हुई थीं और कमलपत्रों में कीचड़ भर गया था।

हवा सुहावनी थी, तबतक कमल फूले-फले; लेकिन तूफ़ान आने पर, पंकज पंक में पलट गये। मेरे मन में आया– कितने युवकों की जीवन-कथा इस कमलकुण्ड के रूपक में समाई हुई होगी! वातावरण अनुकूल था तबतक वे खिले, और वासना की आँधी आने पर वे कुम्हला गये।

परंतु कुंड के ठीक मध्य में एक ऊँचा कमल उगा हुआ था; वह विशेष शोभता, विशेष तेज से चमकता और विशेष छटा से डोलता था। उसने पवन का प्रवाह सह लिया था, बरसात के हमले का सामना किया था, कीचड़ के छींटे टाले थे और संहार के बीच श्रद्धा के अवतार की तरह वह खड़ा था।

मेरे मुँह से निकल पड़ा—"वाह रे, कमल-ब्रह्मचारी का शौर्य।"

"कान से विकार की बातें सुनना, आंख से विकार उत्पन्न करने वाली वस्तु देखना, जीभ से विकारोत्तेजक वस्तु का स्वाद लेना, फिर भी काम-वासना को रोकने का इरादा रखना, ऐसा ही है, जैसे अग्नि में हाथ डालकर भी न जलने का प्रयत्न करना।"

(मो०क० गांधी)

१७

०

पति-पत्नी

"सम्पूर्ण हृदय से दूसरे के अनुकूल होने की साधना करते-करते हमारा व्यक्तित्व बनता है, और सर्वगुणों का विकास भी सिद्ध होता है।"

प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तित्व अनोखा, स्वतन्त्र और अनन्य होता है।

किन्हीं भी दो मनुष्यों का चेहरा अलग, माप-वज़न अलग, हाव-भाव अलग और विशेषकर विचार अलग, भावना अलग, एवं आत्मा की अभिलाषा भी अलग होती है।

प्रकृति के नमूने में पुनरावर्तन नहीं होता।

ऐसे दो नमूनों के बीच मेल बिठाना हो—और इस प्रयोग को बिलकुल असाध्य-सा बनाने के लिए एक व्यक्ति स्त्री हो और दूसरा पुरुष हो और जीवन-पर्यन्त बंधी रहे, ऐसी गाँठ दोनों के बीच बांधनी हो—आकाश-पाताल एक करने जैसी यह बात हो—तो भी संसार के कुछ महारथी यह अपूर्व सिद्धि प्राप्त करते हैं और इस सिद्धि में सुखी एवं सफल दाम्पत्य का रहस्य वे पाते हैं।

साधना का प्रथम सोपान जागृति है। मेरे हाथ में कौन-से पत्ते हैं, इसकी जानकारी और दूसरे के हाथ में कौन-से हैं इसके अनुमान से खेल चलता है। यही बात स्त्री-पुरुष के व्यवहार पर भी लागू होती है। पुरुष

का आन्तरिक तंत्र अलग और स्त्री का अलग, इसकी प्रतीति और स्वीकृति मंगल सप्तपदी का पहला कदम है।

स्त्री भावना-प्रधान है, जबकि पुरुष जड़ नहीं तो कुछ निस्पृह तो अवश्य है। दो सनातन पक्षों के बीच न्याय करने बैठें तो दिल ऐसा धड़कने लगता है मानो सांप के बिल में हाथ डाला हो; परंतु आरंभ किये हुए साहस को चालू रखे बिना छुटकारा ही नहीं। फिर इस झगड़े में तटस्थ न्यायाधीश तो पृथ्वी के दरबार में मिलेगा ही नहीं। पुरुष एक चोट और दो टुकड़े की फ़िलॉसफ़ी मानता है, जबकि स्त्री टेढ़े-मेढ़े दांव-पेच पसंद करती है। पुरुष समग्र परिणाम को एक दृष्टि में ही देख लेता है, जबकि स्त्री ब्यौरों की उपासक है। पुरुष का ध्यान वस्तुओं और घटनाओं की ओर, तो स्त्री का व्यक्तियों की ओर जाता है। स्त्री का मन अन्तर्दृष्टि से और पुरुष का मन तर्कबद्ध दलील से काम करता है।

इस दाम्पत्य-कला का पाठ्य-क्रम तनिक समझिये। रूठना, मन-ही-मन जलना, आंसू बहाना आरम्भ कर देना आदि पर स्त्रियों का एकाधिकार भले न हो, किन्तु उनकी यह विशेषता तो है ही। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की आंखें सूखी रहती हैं और उनके हृदय की धड़कन धीमी होती है।

आघात झेलने के यंत्र अलग, इसलिए प्रत्याघात भी विभिन्न प्रकार के होते हैं। कंकड़ पानी में पड़े तो छींटे उड़ेंगे तो निस्पंद तल में बैठ जायगा। एक ही बात पुरुष के कानों में पड़ें तो उसकी भाव-समाधि न टूटेगी, परंतु स्त्री के कानों में पड़ें तो छींटे जरूर उड़ेंगे।

झगड़ा होने पर पति बचाव करता है, "मैंने ऐसा क्या कहा था कि वह जल उठे? आज मेरा मन नहीं; तुम अकेली चली जाना।" और वह इतनी-सी बात का बतंगड़ बना कर बैठी है, और मुझे दुनिया के सामने सात पीढ़ियों का कुलांगार ठहरा दिया है। इसी का तो नाम नारी है, और क्या?

पतिदेव को खबर नहीं कि उसे जो सीधी-सादी और दीवे-जैसी स्पष्ट बात लगती है, वह स्त्री के भावनाशील स्वभाव में कुछ और ही उलटी-सीधी भनक पैदा कर जाती है।

शब्दों और वाक्यों का अर्थ बिठाने के लिए स्त्री के पास अलग व्याकरण होता है। कोई आधुनिक पाणिनि स्त्री और पुरुषों के लिए अलग-अलग व्याकरण लिख दे, और पति-पत्नी का अलग शब्दकोष भी बना दे, तो कहीं मेल बैठे। इस बीच साधारण स्त्री के साथ बोलते हुए पुरुष को बात स्पष्ट करके बोलने की आदत छोड़नी चाहिए और स्पष्टता के साथ बोलने वाले पुरुष की बात सुननेवाली स्त्री को, स्पष्टता के धक्के को सह सके ऐसा, फाया मन के कान में डालकर सुनना चाहिए।

पुरुष का शारीरिक गठन और घर एवं बाहर उसका पालन-पोषण, उसे बाहुबल की सीधी पद्धतियों पर मुख्य आधार रखने वाला बना देता है। जहां छोटा रास्ता बनाना हो, वहां लम्बा रास्ता काम नहीं आता। जहां एक शब्द से काम निकले, वहाँ दस बोलने का कुछ अर्थ नहीं।

इसके विपरीत स्त्री का गठन नाजुक और पालन-पोषण घर में ही होता है। इसलिए वह बचपन से ही मानव-स्वभाव की पारखी और दूसरों का अप्रत्यक्ष उपयोग करके अपना हेतु सिद्ध करने में कुशल होती है।

सायंकाल बाहर भोजन करने का लालच देकर पत्नी पति को बरबस बाहर ले जाती है। घूमते-घूमते वह अकस्मात दूसरा मार्ग पकड़ती है; बीच में ही जौहरी की दुकान के सामने वह सहजभाव से खड़ी हो जाती है और वहां शोभित हो रहे (जिसे स्वयं दस दिन पहले देखा था, और उसे जैसे भी हो वैसे खरीदने का मन बना बैठी थी) मोती के हार की ओर निर्मल भाव से पति का ध्यान खींचती है। पति ने

निःश्वास छोड़ते हुए जोर से कहा, "हार चाहिए था तो पहले से क्यों नहीं कहा?" स्त्री स्वभाव हैं, इसीलिए न? अगर इस घरेलू राजनीति के नियमों की जानकारी स्त्री-पुरुष को हो, तो स्त्री की टेढ़ी-मेढ़ी नीति में पुरुष को खटपट की गंध आयेगी; और पुरुष के झटपट किये हुए फैसले में स्त्री को जड़ता नहीं दिखाई देगी।

लड़के-लड़कियों के समूह के सामने से एक नई मोटर गुज़री तब समूह में से दो प्रश्न साफ़-साफ सुनाई पड़े। एक लड़के ने पूछा, "ये कौन-सा मॉडल है?" लड़की ने पूछा, "अंदर कौन बैठे हैं?" पुरुष का "क्या?" जबकि स्त्री का "कौन?" यह लाक्षणिक वृत्ति है। स्त्री की बातचीत की विषय-सूची में व्यक्तियों के गुण-दोष, जाने-पहचाने एवं उनके प्रसंग, बालक और पड़ोसी, कपड़े-श्रृंगार, घर और साज़-सामान, विशेष रूप से आते हैं, जबकि पुरुषों की सूची में व्यवसाय और पैसा, राजनीति और योजनाएं, खेल-कूद और मनोरंजन आदि प्रमुख स्थान लेते हैं।

पत्नी यदि पति के व्यवसाय की थोड़ी परिभाषा सीखे और पति यदि अलग तरह की साड़ियों में रस लेना सीखे, तो घर में मौनव्रत का समय कम हो जायगा।

फिर पुरुष का मस्तिष्क तथ्यों से अनुमान की प्रक्रिया द्वारा परिणाम पर पहुंचकर, तर्क चलाकर, निर्णय पर आता है, जबकि स्त्री की बुद्धि बीच की मंज़िल को लांघकर एकदम अंतिम परिणाम पर पहुंचती है।

कहा जाता है कि क्यूरी दम्पति की अद्‌भुत वैज्ञानिक शोधों में मेडम क्यूरी अंतर-प्रज्ञा से अनुमान लगाती और उनके पति प्रयोग करके, और समीकरण बिठाकर परिश्रमपूर्वक उसे सिद्ध करते! ऐसे सुमेल से जीवन की प्रयोगशाला में शोध-कार्य सफल होता है।

प्रश्न उठता है कि जिन्हें अभिन्न एकरूपता में बांधना था, उन स्त्री-पुरुषों को प्रकृति ने इतना अधिक भिन्न क्यों बनाया? केवल

तपश्चर्या कराने के लिए ही न ? नहीं; अपितु विश्व-नाटक में, खेल में स्त्री-पुरुष को अलग-अलग भूमिका निभानी थी; खेल में कमी न रहे, इस हेतु से प्रकृति ने पहले से ही उन्हें अलग-अलग स्वभाव से विभूषित किया।

स्त्री का भाग माता का; उसकी कोमलता, धीरज, बाल-प्रेम, गृहभक्ति, सूक्ष्म ब्यौरों (विवरणों) का ध्यान और मन में ठाना हुआ करा लेने की कुशलता, इन सब गुणों के कारण बालक का लालन-पालन एवं संस्कार-सिंचन उसके पवित्र हाथों द्वारा अच्छी तरह हो सकता है।

जबकि पुरुष की भूमिका पिता की है; सामर्थ्य और मेहनत, वस्तुलक्षी विश्वदर्शन और सीधा हमला करने की वृत्ति आदि के कारण वह कुटुंब के रक्षण-पोषण एवं संचालन के लिए रचा गया है।

सोना और सुगंध।
बीज और खेत।
सूर्य और चन्द्र।

स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के पूरक हैं—ऐसा कहना और उसके समर्थन में वसिष्ठ-अरुन्धती से लेकर गांधी-कस्तूरबा तक के, आदर्श युगलों की सूची तैयार कर देना सरल है। परन्तु वस्तु-जगत् में स्त्री-पुरुष दोनों के लिए एक-दूसरे के अनुकूल होना-और वह भी शिष्टाचार के निमित्त थोड़े घंटों के लिए नहीं, बल्कि प्रतिदिन के चौबीस घंटे और जीवन-भर-कठिन है। दोनों के व्यक्तित्व की खरी कसौटी यहीं होती है। परन्तु जहां कसौटी है, वहां सिद्धि भी है!

दूसरे के लिए मिली प्रेरणा से, अनुकूल होने की साधना करते-करते, हमारा व्यक्तित्व बनता है और सर्वगुणों का विकास भी सिद्ध होता है। मनुष्य शुष्क इच्छाओं के ज़ोर से आदर्श व्यक्तित्व प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करे, तो उसे कष्ट अधिक होगा और सफलता कम

मिलेगी। लेकिन मन के इस मनोरथ को, यदि हृदय का सहकार मिल जाय, तो मानो पाल में पवन भर गया।

लोहे के सींखचे को बाहुबल से मोड़ना मुश्किल है, परन्तु भट्टी में सांगोपांग तपाने के बाद वह सरलता से मोड़ा जाता है। मनुष्य का स्वभाव भी मन्द प्रयत्न से नहीं बदलता; परंतु विवाह-विधि के अग्निकुंड में तप्त होने के बाद उसे जैसे गढ़ना हो वैसा गढ़ा जा सकता है।

भावना के स्पर्श से कर्त्तव्य क्रीड़ा, त्याग शौक और बलिदान परमानन्द-रूप बन जाता है। गांधीजी की आज्ञा होने पर पूज्य कस्तूरबा ने पहली बार मैला उठाने के लिए साफ ना कर दी थी और घर छोड़ने के लिए तैयार हो गई थीं; परन्तु आगे चलकर अपनी इच्छा से उन्होंने एक हरिजन बालिका को सगी माता के-स्नेह से पाला-पोसा। इस दृष्टांत से मालूम होता है कि दुर्लभ आत्मविकास प्रेम से सुलभ हो जाता है।

स्वार्थ त्यागकर दूसरों के लिए जीने में व्यक्तित्व-निर्माण का सारा शास्त्र समाया हुआ है; और उसका पहला पाठ, सहज ढंग से, कौटुम्बिक जीवन में सीखा जा सकता है। प्रेम में मनुष्य को अपने संकीर्ण वर्तुल में से बाहर लाने की शक्ति है। सच्चे प्रेम में उदारता है, निःस्वार्थता है, बलिदान है। प्रेम से ही मनुष्य पहली बार दूसरों का विचार करने लगता है; अपनी सुविधा छोड़ता हैं, और अपने हृदय-सिहासन पर से अपने-आपको उतारने के लिए तैयार हो जाता है।

पति-पत्नी एक-दूसरे के लिए और दोनों बालकों के लिए जीते हैं। पिता कुटुम्ब का गुज़ारा चलाने के लिए पसीना बहाता है, माता सबको खिलाने के बाद खाती है। इस प्रकार स्वाभाविक ढंग से, विज्ञापन बिना

गर्व बिना, प्रेम के मूक आग्रह के वश होकर, वे अपना जीवन दूसरों के कल्याणार्थ अर्पण करना सीखते हैं और इस शुभ प्रक्रिया में प्रत्येक की मानवता (व्यक्तित्व) विशेष खिल उठती है।

सचमुच विवाह - संस्था
व्यक्तित्व - निर्माण की
उत्तम पाठशाला है।

१८

०

सामाजिकता

"प्रफुल्ल व्यक्तित्व, देश की प्रगति और विश्व की शान्ति सिद्ध करने के लिए मनुष्य के हृदय को पूर्वाग्रहों से मुक्त करना होगा।"

नदी के घाट का पत्थर चिकना होता है। पानी के नित्य-स्पर्श से वह घिसता और गढ़ा जाता है। मनुष्य भी जब जीवन-प्रवाह में पड़ता है तब उसका स्वभाव अनगढ़, ऊबड़-खाबड़ और तीखा होता है। समाज के प्रवाह से वह स्निग्ध, सुघड़ और स्पर्श-रम्य बनता जाता है। समष्टि व्यक्तित्व का निर्माण करनेवाली बड़ी प्रयोगशाला है।

तपस्वी की गुफ़ा में रहने के लिए इन्द्रिय-निग्रह की ज़रूरत होगी; परन्तु संसारी को दुनिया में जीने के लिए भी संयम की कम आवश्यकता नहीं।

मौन व्रत की साधना कठिन होगी; परन्तु जैसी चाहिए वैसी बात करना और सुनना भी छोटी सिद्धि नहीं।

एकांत के अनेक लाभ होंगे; परन्तु मनुष्य का अमर-व्यक्तित्व, समाज-रूपी समुद्र के मंथन में से ही प्रकट होता है।

एकांत मार्ग पर मोटर चलाने के लिए खास जानकारी और

कुशलता की ज़रूरत नहीं। परन्तु साँझ के समय शहर की गलियों की भूलभुलैया में बस-मोटर, रिक्शा-स्कूटर, साइकिल-लॉरी, गाय-भैंस और जीवन के प्रति ख़ास बेपरवाह, निर्मोही राहगीरों की घनी भीड़ के बीच गुस्सा किये बिना और पुलिस की नज़र पर चढ़े बिना मोटर चलाने के लिए उसे चलाने का गहरा ज्ञान चाहिए।

सच्चे जीवन-साथी जन-समुदाय के बीच ही तैयार होते हैं।

समाज-साधना के बीच जो सबसे बड़ा विघ्न आ खड़ा होता है वह है पूर्वाग्रह।

बचपन से ही बालक सुनता आया है कि अमुक जाति नीची और अमुक ऊँची, अमुक प्रांत के लोग आलसी और अमुक के लोभी अमुक देश के लोग हमारे दुश्मन और अमुक के मित्र, अमुक का धर्म निष्कृष्ट और अमुक का उत्कृष्ट। भेद-भाव के इतने सारे बाड़े मन में बाँधकर वह समाज में प्रवेश करता है। फिर, जैसे-जैसे वह प्रांत, देश, धर्म अथवा जाति के मनुष्यों के सम्पर्क में आता है, वैसे-वैसे हरएक को अपने-अपने खाने में वह बिठाता जाता है और हरएक के प्रति अनुकूल व्यवहार करना भी सीखता जाता है। इस प्रकार मानव-जाति विभिन्न भागों में बँट जाती है। टुकड़े-टुकड़े के बीच संघर्ष पैदा होता है, और सांप्रदायिक दंगे, आंतर-विग्रह तथा विश्व-युद्धों से मनुष्यों के दु:खों का विषपात्र छलकने लगता है।

जर्मनी में यहूदियों को सताने की बात लीजिये। पूर्वाग्रह और भेदभाव के दुष्ट परिणाम समझने के लिए यह बोधक और दारुण दृष्टांत प्रस्तुत करती है।

हिटलर ने यहूदियों के विरुद्ध आन्दोलन शुरू किया। वे घटिया रक्त के हैं, ऐसा प्रचार चारों दिशाओं में फैलाया। उनका संपूर्ण बहिष्कार करने का निश्चय किया। वे हाथ पर पीला पट्टा बाँधकर ही

सार्वजनिक स्थानों में घूम-फिर सकते हैं, ऐसा हुक्म ज़ारी किया और पागलपन ने जब मर्यादा छोड़ दी, तब उनका सर्वनाश करने का फरमान ज़ारी किया। अपनी राक्षसी पुलिस के हाथ में जितने यहूदी–पुरुष-स्त्री, बालक आये, उन्हें औश्वित्स गाँव के पास खड़े किए हुए विशाल जेल-शिविर में इकट्ठा किया। इस नरक की विशालकाय भट्टियों और ज़हरील् हवा की कोठरियों में रोज़ लगभग दस हज़ार निर्दोष जीव होमे जाते थे। दूसरे विश्व-युद्ध के बीच, औश्वित्स में कुल २५,००,००० यहूदियों का विधिवत् खून किया गया।

और आश्चर्य की बात तो यह है कि इस शिविर के मुख्य अधिकारी जनरल हेस से अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में जब जिरह की गई तब खूनख़राबी में कुछ भी अनौचित्य न था, ऐसा अपना दृढ़ अभिप्राय उसने यों जताया," हम सुनते और पढ़ते आये थे कि यहूदी ख़राब हैं, और जर्मनी के दुश्मन हैं; उनका नाश करना देश की सेवा है। इसीलिए हिटलर का आदेश हमने उत्साह से शिरोधार्य किया, और अमल में लाने का पूरा प्रयत्न किया।" झूठे प्रचार का कैसा भयंकर परिणाम!

आज औश्वित्स की हत्यारी भट्टी की जगह एक मंदिर ज़रूर खड़ा है; लेकिन भेदभाव का विषचक्र दुनिया में घूम ही रहा है। पूर्वाग्रह, निंदक प्रचार, हिंसा, ये उसकी अशुभ-गति के क़दम हैं। देश और क़ौम के नाम बदलते रहते हैं; परन्तु जहाँ विरोधी समुदाय के बारे में ग़लत मान्यता और ग़लत बातों का प्रचार तथा सामाजिक व्यवहार में भेदनीति होगी, वहाँ हिंसा की भट्टियाँ जब-तब सुलगे बिना न रहेंगी।

हिंसा का उपाय पुलिस को बुलाना नहीं, हिंसा का उपाय हिंसा की जड़ उखाड़ना ही है। और हिंसा की जड़ पूर्वाग्रह है।

निंदा से हिंसा, अफ़वाह से झगड़ा और पूर्वाग्रह से खून-ख़राबी होती है।

हिंसा का गुनहगार हल्ले के आवेश में जान लेनेवाली गोली छोड़नेवाला नहीं, बल्कि इस झगड़े का तख्ता खड़ा करनेवाला निंदा और भेदभाव-प्रधान, अफ़वाह-प्रेमी समाज ही है।

औशिवत्स में जनरल हेस का गुनाह कम न था; परंतु सच तो यह है कि यहूदी प्रजा के बारे में जर्मनी में ग़लत भावना पैदा करने और फैलानेवाला हिटलर का प्रचार निष्णात रोज़ेनवर्ग पहला अपराधी था। भट्टी सुलगानेवाले को माफ़ किया जा सकता है; लेकिन मनुष्यों के मन और हृदयों को, वैर-विरोध की ज्वाला से प्रज्वलित करनेवाले का पाप अक्षम्य है।

और अपनी ही बात करें। जब-जब अख़बारों में ऐसे दंगों के समाचार पढ़ते हैं, तब गुण्डों के सिर सब दोष मढ़ देने के बदले तनिक आत्मनिरीक्षण करें। दंगे में उलझे दोनों पक्षों अथवा समुदायों के बारे में अगर मेरे दिल में भी भेदभाव हो, और मेरी बातचित में और मेरे व्यवहार में वह दिखाई भी पड़ता हो, तो मारपीट में पहली चोट करनेवाला मैं ही था, मुझे यह स्वीकार करना पड़ेगा। ''इस लड़के के साथ खेलना नहीं, यह निम्न जाति का है।'' ''इसके घर हमें नहीं जाना चाहिए।'' ''ये लोग अलग और हम अलग!'' ऐसे पूर्वाग्रह बालक के मन में बाँध देनेवाली माता उग्र तूफ़ान के बीज बो रही है, इसका उसे विचार नहीं।

अमेरिका के स्कूल के विद्यार्थियों के जातीय पूर्वाग्रह का परिमाण कसौटियों और युक्तियों द्वारा मापा गया। फिर इसी ढंग से उन विद्यार्थियों की माताओं में रंगभेद की मात्रा मापी गई। थोड़े अपवाद के सिवा माँ-बेटे के माप समान ही निकले। बालमंदिर के बालकों को खेलने के लिए काली-गोरी गुड़िया और उनके तरह-तरह के घर और कपड़े दिये गए। रंगभेद माननेवाली माताओं के बालकों ने, गोरी गुड़ियों

को सुन्दर वेश में सज़ाकर सुन्दर घर में रखा; काली गुड़ियों को फटे हुए कपड़े पहनाकर टूटे हुए घर में बिठाया। जन्म-घुट्टी के साथ मिले हुए संस्कार अथवा कुसंस्कार भला कैसे धुल सकेंगे?

पूर्वाग्रह अंधी चीज़ है; बुद्धि के प्रकाश के सामने वह टिक नहीं सकता। दूसरे विश्वयुद्ध में रेडक्रॉस के सैनिक डॉक्टर रक्त की शीशियाँ, रक्तदान करनेवाले गोरे या हब्शी के अनुसार अलग-अलग रखते थे। रक्त ऐसे तो लाल ही होता है, काला-सफ़ेद नहीं और सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा उसकी सूक्ष्म जाँच की जाय, अथवा रासायनिक प्रयोगशाला में पृथक्करण किया जाय, तो भी गोरे और नीग्रो के रक्त के बीच किसी भी प्रकार का अंतर सिद्ध होता ही नहीं। तो भी नीग्रो के रक्त की शीशी पर बड़ा-बड़ा काला 'एन' अक्षर लगाया जाता। हब्शी का रक्त स्वीकार करने की अपेक्षा मरना अच्छा, क्या कोई ऐसा मानता होगा? और जहाँ विज्ञान पूरी एकता स्थापित करता है वहाँ अंधी भावना और मिथ्या पूर्वाग्रह को घातक बाड़े खड़े करने दिया जायगा?

पूर्वाग्रह मनुष्य की निष्फलता का परोक्ष परिणाम होता है। जिस कुटुम्ब में दुःख और अनबन हो, उसके सदस्यों में भेदभाव अधिक होता है, जबकि सुखी संगठित घर में वह कम-से-कम होता है—यह बात विशाल जाँच-पड़ताल द्वारा सिद्ध की गई है। निष्फल व्यक्ति अपने दुःख को, दूसरे के सिर मढ़ने का, जाने-अनजाने, प्रयत्न करता है।

जर्मनी ने प्रथम विश्वयुद्ध में हार खाई। उसी के फलस्वरूप हिटलर को जिम्मेदारी दूसरों के सिर डाल देने के लिए, यहूदियों की बलि लेने की सूझी।

फिर, प्रतिस्पर्धी समुदाय का विरोधी पूर्वाग्रह केवल अपने समुदाय को मज़बूत बनाने की एक युक्ति है। हिटलर को जर्मन-जाति की उत्कृष्टता सिद्ध करनी थी, इसीलिए यहूदी जाति के हलकेपन का भूत उसने खड़ा किया। बाहर से दुश्मन चढ़ाई करे तो अन्दर एकता

स्थापित हो, इस न्याय से उसने कृत्रिम दुश्मनों का झूठा मोरचा खड़ा किया।

समाज में एक समुदाय बदनाम हुआ, फिर तो उसपर कोई भी कलंक लगाना आसान हो जाता है। कक्षा में शोर हुआ कि शिक्षक ने पहले तो शरारती विद्यार्थी को ही पकड़ा, वह बेचारा शोर के समय ध्यान-मग्न था, तो भी।

और फिर इस समुदाय के एक सदस्य के लिए जो अवगुण सही हो, वह सबके विषय में हमेशा के लिए सही ठहरा दिया गया—"यह तो है ही ऐसा!" और मानो हमेशा के लिए प्रमाण-पत्र मिल गया।

पूर्वाग्रह से विशेष हानि पूर्वाग्रह रखनेवाले को ही होती है।

पूर्वाग्रह से उच्च पद के लिए योग्य मनुष्य को छोड़कर कम योग्यतावाला मनुष्य पसन्द कर लिया जाता है। पूर्वाग्रह से दबे हुए लोग अपनी क्षमता के अनुसार, काम नहीं कर पाते; पूर्वाग्रह से समाज का तंत्र बिखर जाता है। अमेरिका में जिन प्रान्तों में अधिक रंगभेद है, वे कम समृद्ध हैं; यह वास्तविकता है।

और दिल में ज़हर हो तो उसका असर हुए बिना कैसे रहे? अफ्रीका के एक स्कूल में अंग्रेज़ी की शिक्षा संतोषजनक न थी। उसके कारण की खोज करने पर मालूम पड़ा कि कुछ उत्साही किन्तु बेअक्ल शिक्षिकाएं अंग्रेज़ी की कक्षा का प्रारंभ इस विज्ञापन से करती थीं : "अब हम अपने दुश्मनों की भाषा सीखेंगे।" दुश्मन की भाषा सीखने के लिए बेचारे बालक कैसे मन लगायें?

प्रफुल्ल व्यक्तित्व, समाज का कल्याण, देश की प्रगति और विश्व की शांति सिद्ध करने के लिए मनुष्य के हृदय को पूर्वाग्रह से मुक्त बनाना होगा, और सफ़ाई का काम घर से ही शुरू होता है। हृदय-शुद्धि

का काम अपने ही हृदय से शुरू होता है। हम अपने हृदय में विश्व-भावना विकसित करें, यह प्रत्येक का पुनीत कर्त्तव्य है।

एक नीग्रो युवक को जाति, रंग, धर्म इत्यादि की सूचना देनेवाला फ़ार्म भरना था। सहज भाव से, उसने खाली स्थान यों भरे:

जाति–मनुष्य-जाति
रंग–कुदरती रंग
धर्म–मानव-धर्म
और फॉर्म स्वीकृत हुआ।

१९

आत्म-सम्मान

"भूतकाल से अनुभव लेकर भविष्य की योजना गढ़ने की बुद्धि और उस योजना को कार्यान्वित करने के लिए उपयुक्त साधनों को पसन्द करते समय मनुष्य के हृदय में अनोखा भाव उदित होता है—'मनुष्य के योग्य काम मेरे हाथों हो रहा है।' यह अनोखा भाव ही आत्म-सम्मान का आधार है।"

मनुष्य सृष्टि-शिरोमणि प्राणी है। मानव-हृदय, इतिहास का आद्य विश्व-तीर्थ है।

पिंड में ब्रह्मांड का समावेश होता है।

मनुष्य को इसका थोड़ा-बहुत विचार है और जैसे-जैसे उसका यह विचार पुष्ट होता है, वैसे-वैसे मनुष्य के रूप में उसका आत्म-सम्मान भी बढ़ने लगता है।

जंगली मनुष्य, प्रकृति की शक्तियों और हिंस्र प्राणियों के डर से दबा हुआ रहता था, आँधी और बिजली, बाढ़ और भूकंप के हमले से वह काँपता था। सूर्योदय, सूर्यास्त और ज्वार-भाटा के रहस्य उससे गुप्त ही थे। सिंह और व्याघ्र, अजगर और मगर उसके दुश्मन थे। वह प्रकृति का खिलौना, एक पामर प्राणी, असहाय जीव, देखते-देखते नष्ट होगा और सृष्टि के मंच पर से हमेशा के लिए अदृश्य हो जायगा, ऐसा किसी भी तटस्थ निरीक्षक को लगता।

परन्तु प्रलय की बाढ़ आई और गई, तरह-तरह के राक्षस जानवर लुप्त हो गये, ज्वालामुखी भड़क उठे और शांत हो गये, समुद्र और धरती की सीमाएँ भी बदलीं, यह लाचार मनुष्य, मिट्टी का यह पुतला, दुर्बल-से-दुर्बल प्रतीत होता यह प्राणी युगों को पार पर अब तक धरती पर विद्यमान है। इतना ही नहीं, बल्कि बाढ़ के पानी के सामने उसने बांध बनाये, बिजली को दासी बनाया और जंगल के प्राणियों को पिंजरे में बन्द किया।

प्रकृति का तुच्छ खिलौना आज सृष्टि के सिंहासन पर बैठा है। यह शक्ति उसमें कहाँ से आई?

तत्त्ववेत्ता पास्कल ने मनुष्य की दो शब्दों में गर्भित व्याख्या की है—"विचारशील नेज़ा।" नेज़े की तरह मनुष्य का शरीर भी आसानी से झुक जाता है, दुनिया की लहरों में डोलता रहता है। डोलते हुए नेज़े में विचार करने की शक्ति आ जाय, तो दुनिया इस सोटी के ताल पर नाचे। इसके विपरीत भूतकाल से अनुभव लेकर भविष्य की योजना गढ़ने की बुद्धि और उस योजना को क़दम-क़दम पर अमल में लानेवाले साधनों को पसन्द करके, उपयुक्त निर्णय करने की शक्ति, मनुष्य की महत्त्वपूर्ण विरासत है। यह विकास, प्रगति और संस्कृति का आधार है और यही स्वतंत्रता की नींव है।

अपने कमरे की खिड़की से रोज़ सुबह-शाम चरने जाती-आती भैंसों के एक झुंड को देखता हूँ। रोज़ यही कार्यक्रम। एक जहाँ जाती है, दूसरी उसका अनुसरण करती है। एक ग़लत फाटक में घुसती है, तो ग्वाले का ध्यान जबतक न जाय तबतक दूसरी सब उसी फाटक में घुसती हैं। एक खड़ी हो जाय, तो उसके पीछे की भी खड़ी हो जाती हैं और इस प्रकार एक के बाद एक, सब खड़ी हो जाती हैं।

इसका नाम है समूह-वृत्ति।

समूह में व्यक्ति खो जाता है। एक भैंस में और दूसरी भैंस में क्या

अन्तर है? निस्संदेह रंग या सींगों की बनावट से ग्वाला प्रत्येक को पहचान सकता है, परन्तु हर एक भैंस का अपना व्यक्तित्व है ही नहीं। व्यक्तित्व के लिए स्वतंत्रता चाहिए और स्वतंत्रता के लिए बुद्धि और पसंदगी की शक्ति चाहिए।

मनुष्य अपना रास्ता पसन्द करता है। रास्ता न हो तो घोर जंगल में कुल्हाड़ी चलाकर रास्ता बना लेता है और अनेक रास्ते हों, तो भी सबको छोड़कर नई पगडंडी बनाता है। उसकी यह खूबी और महत्ता है।

नदी में लकड़ी का कोई टुकड़ा डालो तो वह प्रवाह के साथ बहता चलेगा। परन्तु इस लकड़ी के टुकड़े पर अगर मनुष्य सवार हो जाय, तो युक्ति और शक्ति द्वारा प्रवाह को चीरकर वह आगे बढ़ेगा और नदी के ठेठ मूल तक पहुँच जायगा।

प्रवाह के विरुद्ध तैरने की यह उमंग, पहल करने का यह उत्साह, यह साहसवृत्ति, यह सृजन-शक्ति मनुष्य की विशिष्टता है। विवेकपूर्वक और स्वतंत्र रूप से पसंद करने की शक्ति से सम्पन्न प्राणी मनुष्य है।

स्वतंत्रता मनुष्य का लाक्षणिक गुण है। इसलिए व्यक्तित्व-निर्माण में उसकी ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। यह स्वतंत्रता न हो तो न व्यक्ति और न समष्टि, न मनुष्य और न देश, प्रगति कर सकता है। यह इतिहास और अनुभव की बात है।

आज़ादी के बीस वर्षों में भारत ने जो प्रगति की, वैसी स्वतंत्रतापूर्व के पचास वर्षों में भी न हो सकी थी। इसी-भाँति बन्द वातावरण में रहनेवाले युवक का व्यक्तित्व अवरुद्ध हो जाता है। परन्तु जानबूझकर उसे ज़िम्मेदारी सौंपी जाय और जीवन में उपस्थित होनेवाले विकल्पों पर अपनी राय बनाने का उसे मौका दिया जाय, तो उसमें जल्दी ही प्रौढ़ता आ जाय।

"मैं बड़ा कब हुआ?" इस शीर्षक से काका साहब कालेलकर 'स्मरण-यात्रा' में लिखते हैं कि वह चौदह वर्ष के थे, तब किसी को रुपया उधार देने के सम्बन्ध में पिताजी ने उनका अभिप्राय पूछा। "मैं आश्चर्य-चकित हो गया। उधार रुपया देने जैसे महत्त्व के मामले में पिताजी मेरी सलाह किसी समय लेंगे, मुझे कल्पना भी न थी। मेरे मन में विचार आया कि मैं अब बड़ा हो गया हूँ, क्योंकि कौटुम्बिक राज्य में मत देने का मुझे अधिकार मिला है।" उनकी सलाह सही लगने से पिताजी ने सारा काम निबटाने का भार उन्हीं को सौंप दिया, और निबटारा देखकर संतोष प्रकट किया। "बड़ी ज़िम्मेदारी उठाकर किये हुए काम के लिए पिताजी ने सन्तोष व्यक्त किया, इसलिए मुझे भरोसा हो गया कि अब मैं बड़ा हो ही गया हूँ।"

स्वतंत्र रूप से निर्णय करने की ज़िम्मेदारी मिलने से प्रौढ़ता आती है। दु:ख की बात है कि रूढ़ि-परायण समाज-व्यवस्था के कारण, बहुत बार, बड़ी उम्र तक ऐसी ज़िम्मेदारी उठाने का और ऐसा निर्णय करने का अवसर कुटुम्ब और समाज में उदीयमान सभ्यों को नहीं दिया जाता। काका साहब स्वयं दूसरे स्थल पर ऐसा एक प्रसंग उद्धृत करके अपना रोष प्रकट करते हैं, "स्वराज्य-आन्दोलन के दिनों में पैंतीस-चालीस वर्ष के एक व्यक्ति को, आन्दोलन में भाग लेने के लिए मैं समझाता था। इतने में उसके वृद्ध पिता आये और कहने लगे, 'जो कुछ कहना हो, मुझसे कहिये। इस छोटे लड़के को क्या कहते हो!' मैंने नम्रतापूर्वक कहा, 'तुम्हारे पुत्र के दो बालक भी हो गये, वह अब कोई छोटा लड़का नहीं है। देश के प्रति अपना कर्त्तव्य क्यों उसे न समझाना चाहिए?' वृद्ध खिसियाकर बोला, 'नहीं, जबतक मैं जीता हूँ, घर का कर्त्ता-धर्त्ता मैं हूँ। सबको मेरे कथनानुसार चलना है। मैं जबतक हूँ, तबतक विचार करने का अधिकार भी मेरे लड़कों को नहीं।' 'तो फिर हमें भगवान् से क्या प्रार्थना करनी चाहिए?' मैंने कुछ खीझ और मज़ाक

के साथ पूछा।"

घर की व्यवस्था में, भविष्य की योजना में, शिक्षा के विषय में, नौकरी और जीवन-साथी की पसंदगी में अगर नवयुवक को हाथ ऊँचा करने की छूट भी न हो, तो वह स्वतंत्र व्यक्ति कैसे हो सकेगा?

जीवन में विकल्प आवे, मार्ग में निराशाएँ आवें, तब एक-एक रास्ते की जाँच कर, आगे जाने वाले बुज़ुर्गों की सलाह लेकर, अन्त में दूसरा रास्ता छोड़ विश्वासपूर्वक स्वयं एक पसन्द कर और इस पसंदगी के लिए सम्पूर्ण ज़िम्मेदारी अपने सिर लेकर, उसके अच्छे-बुरे फल स्वीकार कर, दूसरे उपस्थित होनेवाले विकल्पों के लिए भी इसी प्रकार आत्म-शिक्षण द्वारा तैयार होते रहना व्यक्तित्व-निर्माण का राजमार्ग है। समझदारी और ज़िम्मेदारी से ऐसी पसंद करते समय मनुष्य के हृदय में एक अनोखा भाव उभरता है—"मनुष्य के योग्य काम मेरे हाथों हो रहा है, ऐसा काम ही मनुष्य को शोभा देता है।"

बुद्धि के उपयोग द्वारा जो फ़ैसला कर सके, वह इन्सान, शेष तो यंत्र की सृष्टि!

आकॉश-यान ("जैमिनी–४") को लम्बी उड़ान का रिकार्ड स्थापित करने के लिए अमरीका ने आकाश में छोड़ा था। दो-तीन परिभ्रमण के बाद ईंधन-कोष बिगड़ा। यदि यान तुरंत न उतरे तो उसमें बैठे हुए दो आकाश-वीरों का जीवन जोखम में पड़ जाय, ऐसा लगा। एक तरफ़ दो आदमियों की सुरक्षा और दूसरी तरफ़ देश की इज्ज़त—इन दो विकल्पों के बीच उड्डयन-नियामक क्रिस्टोफ़र क्राफ़्ट को थोड़े ही क्षणों में निर्णय करना था। सारी दुनिया की आँखें उसकी ओर लगी थीं। टेबल पर पड़े हुए दुनियाभर के रिले-स्टेशनों के अन्तिम विवरणों पर उसने नज़र डाली। तरह-तरह के गणक यंत्रों के आँकड़े पलभर में जाँच लिए, आसपास खड़े निष्णातों के अभिप्राय जाने, रेडियो पर आकाश-वीरों के साथ बात की, और संकट की उस कठिन स्थिति में

अपना निश्चय जतलाया, "उड़ान चालू रहे!" सचमुच प्रयोग सफल सिद्ध हुआ, और नया रिकार्ड स्थापित हुआ। यंत्र जड़ सेवा देते हैं, परंतु उस जड़ सेवा को लेकर मनुष्य का जीवन और मानव-जाति का इतिहास तो मनुष्य की निश्चय-शक्ति ही गढ़ती है।

तुम्हारे जीवन में पसंदगी करने के ऐसे प्रसंग आयें, तब आगे बढ़कर उत्साह से उनका लाभ उठाओ।

अपने निर्णय आप ही करो।

"सब करते हैं, इसलिए मैं भी ऐसा करता हूँ; मेरे मित्र ऐसा कहते हैं, इसलिए मैं भी ऐसा कहता हूँ; रिवाज है। इसलिए करना पड़ेगा।" ऐसे सूत्र तुम्हारी ज़ुबान पर शोभा नहीं देते। यह धर्म-संहिता भेड़ों की होगी, मनुष्य की नहीं।

कॉलेज में कौनसा विषय लेना, कहाँ तक पढ़ना, विवाह कब करना, कौनसी नौकरी पसंद करना, यह निर्णय तुम्हें करना है। घरवालों से पूछकर, सलाह लेकर, पूरा विचार करके, ये फ़ैसले करना। परंतु अपना व्यक्तित्व सत्वर निर्माण करना हो तो "दूसरे लोग, सब निर्णय मेरे लिए कर देंगे", ऐसा कहकर अपनी ज़िम्मेदारी से बचने का ग़लत प्रयत्न न करना!

अपने निर्णय स्वयं करने से ही, अपने महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व का भान तुम्हारे अन्तर में होगा; तुम्हारा स्वतंत्र स्वभाव बनेगा और मानव-व्यक्ति के रूप में आत्म-सम्मान तुम्हारा जीवनमंत्र बन जायगा।

> "ज़रा ध्यानपूर्वक देखो, तुम्हारे ही अंतर में, तरुण सूर्य सुवर्ण पद्म की कली की तरह सिर ऊँचा करता हुआ उग रहा है। धीमे-धीमे आकाश की पंखुड़ी चारों ओर फैलाने की तैयारी करता है—तुम्हारे ही अंतर में।"
>
> (टैगोर)

२०

श्रेष्ठता की उपासना

"गरुड़ आकाश में उड़ना छोड़कर अगर मुर्गी की तरह जमीन पर पंख फड़-फड़ाते हुए इधर-उधर फिरे, तो कैसी हँसी और कैसी दया आयगी !"

'चलेगा' जैसा घातक शब्द हमारे शब्दकोष में दूसरा नहीं।

पढ़ना तो सारा पाठ्यक्रम था, परन्तु बहुत-सा भाग पढ़ लेने के बाद लगा कि शेष भाग न पढ़ें तो भी विशेष बाधा न आयेगी। अतः 'चलेगा' कहकर अधूरी तैयारी से ही परीक्षा में बैठा।

करना तो था विज्ञान का निश्चित प्रयोग, परन्तु अन्तिम दशांश में पर्याप्त अन्तर रहने पर भी नये सिरे से काम शुरू करने में आलस्य आया। अतः 'चलेगा' ऐसा बड़बड़ाते हुए, प्रयोग-पत्रिका पर अध्यापक के हस्ताक्षर ले लिये।

खेलना तो था प्रतियोगिता के अन्तिम खेल में। उसके लिए सप्ताह तक रोज आकर अभ्यास करना निश्चित किया गया। परन्तु जब एक आया, तब दूसरा न आया। अन्त में 'चलेगा' का मंत्र पढ़कर मैदान में उतरे।

आगे चलकर नौकरी-व्यवसाय में पड़ने पर, व्यापारी की दुकान में

घटिया माल आया हो, तब 'चलेगा' कहकर ग्राहकों को वह चिपका दिया जाता है। उद्योग-पति के कारखाने में कुशल कारीगर न हों, तब भी 'चलेगा' कहकर बाज़ार में नुक्स वाले माल को भी पहुँचा दिया जाता है। इंजीनियर की गणना यथार्थ न हो, तब 'चलेगा' के फलस्वरूप सड़क टेढ़ी-मेढ़ी बना दी जाती है। और पुल, नदी से भेंट करने कब झुक पड़े, यह कहा न जा सके, ऐसा बना दिया जाता है।

इस प्रकार सच भी नहीं और बिल्कुल झूठ भी नहीं, स्वीकार्य भी नहीं और एकदम अस्वीकार्य भी नहीं, कितना चलेगा यह समझा भी न जाय, परन्तु कुछ तो 'चलेगा' ज़रूर, इस ढंग से या ढीले-ढाले मन से घर का व्यवहार, कार्यालय का काम-काज, बैंक का हिसाब, मिल की नौकरी, बाज़ार का व्यापार और कक्षा का पठन-पाठन आदि चलता है। फलत: व्यक्तिगत जीवन तथा समाज-तंत्र बिगड़ जाता है।

'चलेगा' का अभिप्राय: हमें चिपट गया है।

अगर यह एक ही शब्द अपने शब्दकोष में से तथा हमारी हड्डियों में से हमेशा के लिए हटा दें, तो एक ही झटके में हमारा व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन सुधर जाय।

विमान उड़ाने की तैयारी के लिए जो अनेक सूक्ष्म गणनाएँ करनी होती हैं उन्हें करते हुए अधीर विमान-चालक ऊब गया, इसलिए रोज़ के अनुभव पर से आँकड़े बिठाकर कल-पुर्ज़े व्यवस्थित कर दिए। बदलते हुए हवायान के अनुसार सुधार करना वह भूल गया। दिन की बढ़ती हुई गरमी में विमान का वज़न अधिक लगने से विमान ऊँचा नहीं जा सका और अन्दर बैठे हुए सब मनुष्यों समेत एक मकान के साथ टकरा गया। बेपरवाही का परिणाम मौत हुआ।

शुक्र ग्रह की ओर प्रथम अमरीकी उपग्रह छोड़ा गया, तब एक कोण की अंश-गणना में थोड़ी भूल पड़ी, फलत: उपग्रह उल्टी कक्षा की ओर बढ़ गया, और समूचा प्रयोग निष्फल हो गया।

कितनी दुर्घटनाओं और निष्फलताओं के मूल से किसी के द्वारा बोला गया 'चलेगा' का उद्‌गार ही होता है।

व्यक्ति के निर्माण में ऐसा कच्चापन नहीं निभता। जीवन-निर्माण में ऐसी ढील चलती नहीं। युवक हृदय में ऐसी कृपणता शोभती नहीं।

'कम-से-कम कितनी तैयारी करने से परीक्षा में पास हुआ जा सकता है', ऐसा नहीं; परन्तु 'मुझसे अधिक-से-अधिक कितनी तैयारी की जा सकती है' यह सच्ची वृत्ति है।

'किस कोने में छिपकर जीवन सही-सलामत बिता सकूँगा' ऐसा नहीं, 'परन्तु किस-किस मोरचे पर जाकर अपने आदर्शों के लिए लड़ूँगा' यह सही आकांक्षा है। पंख मिले हैं, उड़ने के लिए।

हरएक काम में मन लगाकर, प्राण डालकर और 'मेरे काम में कमी न होगी' ऐसी भावना से काम करना चाहिए, फिर भले उसे प्रदर्शनी में रखना हो, अथवा फेंक देना हो। मेरा काम है, अतः मेरी आत्मा का इसमें आविर्भाव होना चाहिए।

मेरे व्यक्तित्व का प्रतिबिंब है।
मेरे आदर्श का प्रतिनिधि है।

मेरे काम में ख़ामी सहन की ही नहीं जा सकती।

इटली के मिलान शहर में विश्व-विख्यात देवालय निर्माण करते समय कितनी ही मूर्तियाँ ऐसी ऊँची और तंग जगह पर स्थापित करनी थीं जहाँ किसी की नज़र पहुँच ही न सके, तो भी शिल्पी, अपने काम में लीन होकर, एक-एक रेखा और मरोड़ में अपनी कला डालकर मूर्तियों को तराशता था। एक मित्र ने यह देखकर टीका की, "इस मूर्ति पर किसी की नज़र पड़नी ही नहीं, तो फिर इसके लिए इतनी मेहनत क्यों करते हो? जैसे-तैसे करके झट पूर्ण कर दोगे, तो भी चलेगा।" शिल्पी ने मूर्ति पर से आँखें-ऊँची किये बिना जवाब दिया, "मेरी कृति है, इसलिए श्रेष्ठ होनी ही चाहिए, फिर भले ही कोई इसे देखे या

न देखे। मैं तो देखता हूँ, और कोई नहीं तो भगवान तो देखेगा ही न?

"मेरी कृति है, अतः श्रेष्ठ होनी ही चाहिए," यह कलाकार का आदर्श वाक्य और जीवन-निर्माण का मुख्य सिद्धान्त है।

"मेरे हाथों अनगढ़ काम शोभा नहीं देगा। मेरी मर्यादाएँ हैं ही; परन्तु इनमें रहकर, मुझसे जितना अच्छे-से-अच्छा काम हो सके, उतना हमेशा करने का मेरा आग्रह होगा। मेरा काम है, इसलिए मेरे परिमाण में उत्तम ही होना चाहिए।"

युवक माइकेल एंजेलो की कुछ शिल्पकृतियों की चोरी हो गई और दूसरे के नाम से वे सब बिकने लगीं। तब उसे बड़ा दुःख हुआ और जो मूर्त्ति स्वयं गढ़ रहा था, उसपर मोटे अक्षरों से अपना नाम खोद दिया। परन्तु यह उपाय बेहूदा लगने पर उसने संकल्प किया कि 'मेरी एक-एक कृति अब ऐसी होगी कि उसे देखते ही सबको प्रतीति हो जायगी कि यह माइकेल एंजेलो की ही है। स्थूल अक्षरों से नहीं, बल्कि अपना प्राण अपनी हर एक मूर्ति में डालकर मैं उसे अपनी कृति के रूप में परिचित कराऊँगा।' और सचमुच आज के कला-निष्णात भी माइकेल एंजेलो की एक-एक मूर्ति में और एक-एक चित्र में उसकी व्यक्तिगत छाप परख सकते हैं।

मेरे जीवन-गठन में, मेरे अन्तर के चित्र में भी, ऐसी छाप और ऐसी कारीगरी चाहिए। कापीराइट के क़ानून के ज़ोर से नहीं, परन्तु अपनी आत्मा के प्रभाव से, मेरा काम और मेरा जीवन सचमुच मेरे ही हैं, यह मैं सिद्ध कर दूँगा। मेरे हस्ताक्षर न हों तो भी पत्र मेरा ही है, ऐसा पढ़नेवाले को लगे, इस ढंग से मैं लिखूँगा। भजन की अन्तिम कड़ी में "भजे नरसैंयो" न आये, तो भी भजन नरसैंया का ही है, ऐसे ढंग से अपना जीवन-काव्य मैं रचूँगा।

कितना काम करते हो, यह नहीं, परन्तु किस रीति से करते हो, यही मुख्य बात है।

काम की 'विपुलता' नहीं, परन्तु 'श्रेष्ठता' साधने का आदेश है।

दुनिया में श्रेष्ठ प्रकार के वायोलिन बनानेवाला स्त्रादिवारी १७वीं सदी में तंतुवाद्यों का एक कारीगर था। उसके हाथ से थोड़े ही वायोलिनों का सृजन हुआ था। उसके थोड़े वायोलिन दुनिया में अब भी हैं, और हरएक का मूल्य लाखों रुपया आँका जाता है। सच पूछो तो उनकी क़ीमत हो ही नहीं सकती, क्योंकि उनके मालिक उन्हें दूसरे के हाथ में देने को तैयार ही नहीं। अपनी उत्तम कार्यक्षमता के प्रताप से वाद्यों के कारखाने के इस मामूली कारीगर का नाम अमर बना।

फ्रांस के अग्रणी तत्वचिंतक सार्त्र के सामने उनके एक शिष्य ने एक दिन फ़रियाद की, "आपने परिमाण में बहुत कम पुस्तकें लिखी हैं।" उन्होंने जवाब दिया, "मैंने लिखा तो है बहुत, परन्तु अपने लेखों का सिर्फ पाँचवाँ भाग ही छपवाकर मैंने प्रकाशित किया है।" और फिर कहा, "अगर अपने सभी लेख मैंने प्रकाशित किये होते तो मुझे इतनी ख्याति न मिली होती, और तुम मेरे शिष्य न भी होते!" इस 'श्रेष्ठता' ने ही उन्हें साक्षरों के कीर्त्ति-मन्दिर में स्थान दिलाया।

'श्रेष्ठ' की उपासना कला में और विज्ञान में, धर्म और जीवन में, विजय दिलानेवाला मंत्र है।

"लोग मेरा काम देखें या न देखें, उसकी कद्र करें या न करें, मुझे शाबाशी दें या न दें तो भी मैं सम्पूर्ण निष्ठा से और अपनी शक्ति के उच्चतम परिमाण के अनुसार अपना काम करता रहूँगा। परीक्षा हो या न हो, तो भी मैं अच्छी तरह पढ़ूँगा। कसौटी के नम्बर अन्तिम परिणाम में जोड़े जायँ या न जोड़े जायँ, मैं तो पूरे ध्यान से ही लिखूँगा। क्रिकेट-मैच ट्रॉफ़ी के लिये हो अथवा सिर्फ 'मैत्री-खेल' हो तो भी मैं बराबर उत्साह से खेलूँगा। स्थूल बदले की आशा नहीं, परन्तु अपने योग्य काम करने का आत्म-संतोष ही मेरा प्रेरक बल होगा।" मन की इस वृत्ति को कलाकार 'कला के लिए कला', दार्शनिक 'कर्त्तव्य-बुद्धि'

और धर्म-गुरु 'निष्काम कर्म' कहते हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न परिभाषा में, एक ही सिद्धान्त के ये भाषांतर हैं। काम के लिए ही किया गया काम उत्तम कोटि का काम होता है।

पूजा में, देव-मूर्ति को अक्षत चढ़ाते हैं; चावलों के ये दाने अखंड, अतिशुद्ध और अक्षत होने चाहिए। सौ अच्छे दानों के साथ एक टूटा हुआ हो तो 'चलेगा'—जो ऐसा माने वह सच्चा पुजारी नहीं।

हमारा ज़ीवन भी एक यज्ञ है। रोज़-रोज़ हृदय-मंदिर में विराजमान अन्तर्यामी के चरणों में हम अपना प्रत्येक कार्य अर्पण करते

२१

o

उत्साह-आनन्द

"महीनों की सौन्दर्योपासना के पश्चात् मूर्ति का निर्माण पूर्ण करते हुए शिल्पी के हृदय में कैसा उत्साह-आनन्द छलकता होगा !"

शान्ति, आनंद और उत्साह आदि आत्मा की प्रसन्नता, सुघड़ समृद्ध व्यक्तित्व के फल होते हैं।

गुलाब की सुगंध का मज़ा सबसे पहले गुलाब ही उठाता है।

मोती का स्पर्श सबसे पहले सीप ही करती है।

व्यक्तित्व-साधना की सिद्धि का फल सबसे प्रथम व्यक्ति स्वयं ही चखता है।

मानसिक रोग, हृदय के विकार, चिन्ता, जलन, अस्वस्थता और अशांति के इस ज़माने में, संतुलित एवं स्वस्थ व्यक्तित्व संपादन करना जीवन का श्रेष्ठ आशीर्वाद है और जब इस आशीर्वाद का व्यक्ति को अनुभव होता है, जब व्यसनपूर्ण वातावरण के बीच स्वयं हस्तगत संयम की क़ीमत उसे समझ पड़ती है, जब व्यर्थ दौड़-धूप करनेवाली अंधी दुनिया के बीच स्वयं निश्चित किये जीवन-ध्येय की स्पष्ट दिशा का लाभ वह ले पाता है, जब निर्जीव कठपुतली के खेल के बीच स्वयं निर्मित समर्थ व्यक्तित्व का प्रभाव वह अनुभव करता है, तब उसके हृदय में सात्विक आनंद का संचार होता है। जीवन की सार्थकता का आनंद, आत्म-विकास की स्फूर्ति और ध्येय-प्राप्ति का संतोष। इन

गहन और आह्लादक भावनाओं की तुलना में दुनिया के कृत्रिम अट्टहास, तामसी गड़बड़ और औपचारिक स्मित दयनीय प्रतीत होते हैं।

मूर्ति का निर्माण महीनों की सौन्दर्योपासना के पश्चात् पूर्ण करते हुए शिल्पी के हृदय में कैसा आनन्द छलकता होगा ! और दिन-दिन आत्मा के संगमरमर पर विवेक की छैनी चलाकर मूर्ति तैयार करनेवाला जीवन-शिल्पी वर्षों की साधना के पश्चात् आदर्श मानवरूप सृजन होता देखकर कैसा अदम्य उत्साह अनुभव करता है !

कहते हैं कि माइकेल एंजेलो ने मूसा पैग़ंबर की सुविख्यात प्रतिमा पूर्ण की, तब उमंग के आवेश में आकर अपने पैर पर हथौड़े का प्रहार कर उसे आज्ञा की, "अब बोल !"

मूर्ति तराशकर ऐसी हूबहू तैयार की गई थी मानो वह मुँह खोलकर अभी बोलने लगेगी, ऐसा आभास होता था। पत्थर की मूर्ति न बोले ; परंतु मानव-मूर्ति, व्यक्तित्व-निर्माण के कारख़ाने में से आदर्श-मानवता की साक्षात् मूर्ति तैयार होकर जीवन-प्रदर्शनी में रखी जाय तो वह ज़रूर बोलेगी, और हृदयानन्द का दिव्य संदेश दुनिया को सुनायगी।

तुम्हारा व्यक्तित्व अपनी भावना और प्रयत्न के नित्य स्पर्श से जैसे-जैसे आकार पाता जाता है वैसे-वैसे तुम्हें दुनिया के सामने बोलने का अधिकार प्राप्त होता है। सोने की खान तुम्हारे हाथ लगी है। अब कृपण-भाव से उसे ढक देने के बदले दूसरे मानव-बंधुओं और जीवन-मज़दूरों को बुला लाओ, क्योंकि यह सोना ऐसा है, जो बांटने से बढ़ता है।

अमृत का झरना तुम्हारे अंतर में प्रस्फुटित हुआ है, तो दूसरे जीवन-पिपासुओं को आमंत्रण दो ; क्योंकि वह प्रवाह कभी सूखेगा नहीं।

फिर बुलाने और आमंत्रण देने के लिए किसी प्रचार तंत्र अथवा

लंबे-चौड़े धर्मोपदेश की ज़रूरत नहीं ; परंतु तुम्हारा सहज-आनंद और स्वयं उत्साह ही पर्याप्त होंगे।

शुद्ध जीवन वाले का आनंद, शुद्ध जीवन की उत्तम सिफ़ारिश है ; ब्रह्माचारीकानिमलिहास्यब्रह्माचर्यकाउत्तमविज्ञापनहै;प्रामाणिक मनुष्य की सतत शान्ति प्रामाणिकता का उत्तम उपदेश है।

जैसे साधु के उपदेश की अपेक्षा उसके होंठ पर सतत खेलता हुआ प्रसन्न-स्मित अधिक प्रभावशाली होता है, वैसे ही पुष्ट व्यक्तित्ववाले मनुष्य के अंग-अंग से झरता आत्म-संतोष लाखों ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह जीवन-निर्माण का पाठ समझा देता है।

और विपरीत ढंग से भी तुमने दुनिया के सामने आचार-शुद्धि की दीक्षा ली है, तो अब उदासीनता की छाया अपने ऊपर न पड़ने दो। तुम्हारा उदास चेहरा पवित्रता का अपमान करता है ; तुम्हारी ग़मग़ीनी प्रामाणिकता की निन्दा करती है ; तुम्हारी सतत फ़रियाद जीवन-देवता का अपमान करती है।

रात-दिवस मुरझाया मुँह लिये फिरते हुए शिष्य को गुरु ने आज्ञा दी, "या तो मुँह हँसता हुआ रख, या फिर मेरा आश्रम छोड़। लोग तुझे उदास देखेंगे, तो मेरे पास कौन आयगा ?"

जीवन-देवता का भी अपने तरुण भक्तों से यही अनुरोध है, "तुम उदास रहोगे, तो मेरे पास कौन आयगा ?"

उदासीनता हृदय में शोभा नहीं देती। जैसे शरीर का दुःख रोग का लक्षण है, वैसे मन की खिन्नता भी दिल की बीमारी का परिणाम है। उसके मूल में असंयमी जीवन, आत्म-स्वीकार का अभाव, वासना का दबाव, ढीला मनोबल और अनिश्चित जीवन-ध्येय होता है। इस रोग के जंतुओं का जब नाश होगा, तब शुद्ध जीवन के प्रवाह के साथ हृदय में ब्रह्मानंदकाउफ़ानआयेगाऔरजीवन-साधनाकोअधिकाधिकसरल

अनुभव होगा, वैसे-वैसे वह जीवन-साधना को अधिकाधिक सरल बनायेगा और आगे बढ़ायेगा। अगर संयम का प्रयोग कड़वी दवा अथवा अनिवार्य बोझ समझकर आरंभ करोगे, तो उसमें देर तक टिक नहीं सकोगे ; परंतु अगर दिल लगाकर सच्चे उत्साह के साथ उसे हाथ पर लोगे, तो सरलता से उसमें सम्पूर्ण सफलता पाओगे।

आनंद जीवन-यंत्र के चक्रों में तेल देता है, जिससे उनकी घिसाई कम हो और वेग बढ़े।

आनंद उथला भी होता है और गहरा भी। छिछला और ऊपरी आनंद चंचल होता है और चला जाता है, क्योंकि उसका आधार इन्द्रियों पर है। वह रविवार को आता है और सोमवार को चला जाता है ; सुख के साथ रहता है और दुःख से भागता है। छुट्टियों में बढ़ता है और परीक्षा में विलुप्त होता है। वह अनिश्चित है, अस्थिर है, तरंगी है। परंतु सच्चा सात्त्विक आनंद हृदय की गहराई में रहता है। वह चिरस्थायी है। सुख-दुःख की तरंगों से अलिप्त रहता है। इस दिव्य उत्साह में से हमें जीवन-पाथेय मिलता है।

कविवर टैगोर की उपमा है—"वृक्ष दो ढंग से खुराक हासिल करता है। एक, पत्तों द्वारा पवन और प्रकाश में से अपना पोषण पाता है और दूसरे, जड़ों द्वारा अपनी खुराक खींचता है। कभी बरसात होती है, कभी धूप पड़ती है, कभी ठंडा पवन बहता है, कभी वसंत की हवा बहती है और पत्ते चंचल बन जाते हैं, सूखकर गिर भी पड़ते हैं। परंतु जड़ों में ऐसी चंचलता नहीं होती। वे सतत स्थिर रहकर, दृढ़ रहकर, भीतर-भीतर अपने को फैलाकर, सारे समय अपनी खुराक, अपने सतत प्रयत्नों से, प्राप्त करती जाती हैं। हमारे भी दो बाजू हैं—मूल और पत्ते। मूल द्वारा खुराक लेना, यही चरित्र का बाजू है। इस चरित्र द्वारा हम जो ग्रहण करते हैं, वही हमारी मुख्य खुराक है। इसमें चंचलता नहीं होती। हम शांत होते हैं, ईश्वर में प्रतिष्ठित होते हैं।"

आनन्द पुकारेगा, दूसरों को निमंत्रित करेगा, और अनेक साझेदार बनाकर स्वयं और वृद्धि पायेगा। अग्नि का धर्म है, या तो फैलना अथवा बुझ जाना। अगर सचमुच फैले, तो जिसे स्पर्शेगी उसे अपनी ही तरह ज्वलंत बना देगी।

तुम्हारे हाथ में अग्नि की मशाल आई है, हृदय में जीवन-ज्योति प्रकटी है, उसे लेकर अगर एक कोने में बैठे रहोगे, तो वह पवित्र अग्नि बुझ जायगी, मंगल प्रकाश की किरणें सिमट जायँगी।

बाहर आओ !

अग्नि को पवन से डर नहीं, बल्कि मित्रता है। प्रकाश अंधकार से अटकता नहीं, वरन् उसे आरपार बींधकर सितारों तक पहुँच जायगा। तुम्हारे आदर्श का स्पन्दन एवं चरित्र की ऊष्मा भी घर में, समाज में, दुनिया में और ब्रह्मांड में फैलकर शुभ असर जमायेंगे, प्रभाव डालेंगे, कल्याण करेंगे।

शिष्य की कसौटी है : नये शिष्य वह बना सकता है या नहीं !

विद्यार्थी की परख है : सीखा हुआ पाठ वह दूसरों को अच्छी तरह समझा सकता है या नहीं !

वंशज का धर्म है : वंशवृक्ष को वह आगे बराबर जारी रख सकता है या नहीं !

और खूबी यह है कि दूसरों को समझाते हुए तुम्हारा पाठ पक्का हो जायगा।

दूसरों को रास्ता बताते हुए तुम भी उस रास्ते पर सहज ढंग से चलने लगोगे।

दूसरों को व्यक्तित्व-निर्माण की बातें बताते हुए तुम्हारा अपना व्यक्तित्व भी परिपक्व हो जायगा।

ऐसा करते-करते जब अपने जैसे किसी दूसरे आशास्पद युवक को आदर्श के रास्ते पर ले आने में

सफल होगे तभी तुम्हारे आनंद का पार नहीं रहेगा।

अकेले-अकेले घूमने कौन जाय ?

जीवन-यात्रा के लिए हमें प्रस्थान करना है ; मांगल्य के धाम पहुँचने का निमंत्रण मिला है। आदर्श का सम्बल बाँधकर, उमंग के साथ जीवन-भक्तों की टोली बनाकर, उत्साह का ध्वज फहराते हुए और एक-दूसरे को शूरता का जोश चढ़ाते हुए हम रास्ता पकड़ेंगे, जीवन-मैदान में हिम्मत से उतरेंगे।

शांत सरोवर के बीच एक पत्थर पड़ने दो, सारे जल-विस्तार में दूर के किनारे तक उसके वृत्त फैल जायेंगे। घने जंगल में एक चिनगारी पड़ने दो, देखते-देखते वह दावानल बन जायगा।

मानव-समुदाय में एक सच्चे इन्सान, एक आदर्श व्यक्ति, एक प्रेरणामूर्ति नेता को आने दो, समाज की रौनक बदल जायगी।

यह आमंत्रण, यह जिम्मेदारी, यह गौरव, तुम्हारा द्वार खटखटा रहा है।

बीड़ा उठाओगे ?

□□

मण्डल' के नीति-संबंधी प्रमुख प्रकाशन

☐

नीति की बातें :	वियोगी हरि	३.००
मैं महात्मा नहीं हूं :	गांधीजी के प्रेरक जीवन-प्रसंग	३.००
यदि मैं तानाशाह बना :	,,	३.००
प्रभु ही मेरा रक्षक है :	,,	३.००
संगठन में ही शक्ति है :	,,	३.००
त्याग हृदय की वृत्ति है :	,,	३.००
मेरा पेट भारत का पेट है :	,,	३.००
यह तो सार्वजनिक पैसा है :	,,	३.००
हम कभी दंभी न बनें :	,,	३.००
मेरा धर्म सेवा करना है :	,,	३.००
हे राम ! हे राम !! :	,,	३.००
गांधीजी का जीवन-संदेश :	संकलन	१०.००
गांधीजी का जीवन-प्रभात :	सं० अशोक	२.५०
मेरे जीवन में गांधीजी :	घनश्यामदास बिड़ला	१५.००
जीवन-संदेश :	खलील जिब्रान	४.००
दिव्य जीवन की झांकियां	यशपाल जैन	६.००
पथ के आलोक :	सं० यशपाल जैन	४.००
बापू का पथ:	,,	४.००
हमारे संत महात्मा:	,,	५.००
माताजी का दिव्य दर्शन:	,,	४.००
बेताल पच्चीसी:	,,	५.००
सिंहासन बत्तीसी:	,,	५.००
सफलता की कुंजी:	,,	५.००
भारतीय संस्कृति :	साने गुरुजी	१२.००
अहिंसा का अमोघ अस्त्र :	सम्पादक यशपाल जैन	४.००
तपोधन विनोबा :	,,	४.००
गांधीजी के सिद्धान्त नई पीढ़ी की दृष्टि :	गुणवंत शाह	४.००

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

एन ७७, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-११०००१

'मंडल' द्वारा प्रकाशित

नीति, आचार, शिक्षा साहित्य

- रामकृष्ण उपनिषद
- अमृत की बूंदें
- कैसे-कैसे भ्रम
- नीति की बातें
- आप भले जग भला
- विनोबा के विचार (भाग १, २, ३)
- भारत की एकता
- आत्म-दर्शन
- नवप्रभात की झलक
- आत्म-चिंतन
- भगवान हमारा मित्र
- तिरुप्पावै
- परमसखा मृत्यु
- गांधी शिक्षा (तीन भाग)
- सच्चे इन्सान बनो